दर्शन की समस्याएँ : डॉ. एलरिक बारलो शिवाजी

DARSHAN KI SAMASYAEN : Dr. Elrik Barlow Shivaji

[प्रादेशिक भाषाओं में विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थों और साहित्य के निर्माण के लिए भारत सरकार के मानव संसाधन मन्त्रालय (शिक्षा) की केन्द्र प्रवर्तित योजनान्तर्गत मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल द्वारा प्रकाशित एवं भारत सरकार द्वारा रियायती दर पर उपलब्ध कराये गये कागज पर मुद्रित।]

प्रकाशक
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी,
रवीन्द्र नाथ ठाकुर मार्ग,
भोपाल 462006

प्रथम संस्करण : 1990

मूल्य : 18·00 (अट्ठारह) रुपये मात्र

आवरण : धनंजय पिपलकुटे

मुद्रक : भार्गव प्रेस, 1-A बाई का बाग, इलाहाबाद—211003

प्राक्कथन

विश्वविद्यालय स्तरीय शिक्षा के लिए प्रकाशन करते हुए मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी को 20 वर्ष से भी अधिक का समय हो चुका है। सन् 1969 में, इस अकादमी की स्थापना के समय यह अपेक्षा की गयी थी कि यह संस्था उच्च शिक्षा में माध्यम परिवर्तन के साथ-साथ स्तरीयकरण की दिशा में भी पहल करे। लक्ष्य था कि छात्रों और अध्यापकों को हिन्दी भाषा में, सभी विषयों की स्तरीय और मानक पुस्तकें सस्ते दामों में मिल सकें और इसके साथ ही प्रदेश में हिन्दी की साहित्येतर पुस्तकों के लेखन की परम्परा स्थापित हो।

अकादमी ने विगत वर्षों में विभिन्न 25 विषयों की लगभग 600 पुस्तकें प्रकाशित करके इन अपेक्षाओं की समुचित पूर्ति की है। अब तक के कार्यों से यह सिद्ध हो गया है कि हिन्दी भाषा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की अभिव्यक्ति में समर्थ है। इस प्रकार अकादमी ने अंग्रेजी न जानने वाले बहुसंख्यक छात्रों तक ज्ञान का प्रकाश, उपरोक्त माध्यम से उनकी ही भाषा में पहुँचाया है।

अकादमी ने सारस्वत परिसरों के विद्वानों की मदद से इतनी बड़ी संख्या में सामान्य पाठ्यपुस्तकों, संदर्भ ग्रन्थों से लेकर विशेषीकृत ग्रन्थों की रचनाओं, उनके प्रकाशन, प्रचार-प्रसार आदि में भी उल्लेखनीय कार्य किया है।

इस सब के अनन्तर यह मानना गलत होगा कि अकादमी ने अपना लक्ष्य पा लिया है। अकादमी की भूमिका तो निरंतर बनी रहेगी लेकिन विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों के शिक्षक परिवारों से, पुस्तकालयों से यह अपेक्षा अवश्य है कि वे अकादमी को अपना मानें। अकादमी की पुस्तकों को अपने अध्ययन–अध्यापन और पुस्तकालयों में स्थान दें।

मेरा विश्वास है कि यह पुस्तक आपकी आवश्यकता की पूर्ति करेगी।

(विक्रम वर्मा)

मंत्री, उच्च शिक्षा, मध्यप्रदेश शासन एवं

अध्यक्ष, म० प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

भूमिका

एकीकृत पाठ्यक्रम के आधार पर शैक्षणिक जगत में क्रांति लाने का प्रयत्न किया जा रहा है। दर्शन शास्त्र में इस पाठ्यक्रम के द्वारा यह प्रयत्न किया गया कि एक विद्यार्थी दर्शन की समस्याओं से परिचित हो जावे और इस करण से यह आवश्यक हो गया कि विद्यार्थी समस्याओं के साथ-साथ प्राचीनता और नवीनता से भी परिचित हो जावे। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर बी० ए० भाग – 3 का यह पाठ्यक्रम 'दर्शन की समस्याएँ' पुस्तक का निर्माण किया गया है।

किसी भी विषय का अध्ययन करने के पहले यह आवश्यक हो जाता है कि यह निश्चित किया जावे कि किस प्रणाली से उस विषय का अध्ययन किया जावे जिस विषय का अध्ययन किया जाना है क्योंकि विभिन्न विषयों के लिए विभिन्न प्रणालियों का उपयोग किया जाता है। दर्शन शास्त्र में आगमन, निगमन, अन्तः-प्रज्ञा, द्वन्द्वात्मक एवं विश्लेषणात्मक प्रणालियों की चर्चा की जाती है। अतः अध्याय एक और दो में प्रणालियों के विवेचन पर ध्यान केन्द्रित किया गया ताकि विद्यार्थी को दर्शन शास्त्र की गुत्थियां समझने में सहायता मिल सके।

अध्याय तीन में ज्ञान से सम्बन्धित प्रश्नों का विवेचन किया गया है। ऐसा माना जाता है कि बुद्धिवाद, अनुभववाद के कारण ही ज्ञान की समस्या उत्पन्न हुई है और नाना प्रकार के ज्ञान की चर्चा की जाने लगी। वैसे तो संशय से ज्ञान की उत्पति मानी जाती है। इस कारण संशयवाद की विवेचना भी इस अध्याय का एक महत्वपूर्ण अंग है। बुद्धिवाद, अनुभववाद अपने-अपने तरीके से ज्ञान की विवेचना करते हैं परन्तु दार्शनिक मूल रूप से ज्ञान की सत्यता को कसौटी पर कसने का प्रयत्न करते हैं। बुद्धिवाद, अनुभववाद के साथ-साथ समकालीन दर्शन में देखे जाने वाले नव्य विषयवादियों, तर्कनिष्ठ प्रत्यक्षवादियों के विचारों को भी सम्मिलित किया गया है।

सत्य के सिद्धान्तों से सम्बन्धित चौथा अध्याय है। सत्य को जानने के वाद-विवाद के कारण तीन सिद्धान्त स्थापित हुए जिन्हें सामंजस्यवादी (Coherence) सिद्धान्त, अनुकूलता अथवा अनुरूपता (Correspondence) का सिद्धान्त और अर्थ-क्रियावादी (Pragmatic) सिद्धान्त कहा जाता है। तीनों सिद्धान्तों का विवेचन

इस अध्याय के प्राण हैं एवं साथ ही दार्शनिकों ने जिस प्रकार से एक दूसरे के सिद्धान्तों की आलोचना की है उसका समावेश भी इस अध्याय में किया गया है।

ज्ञान, सत्य स्वयं में सत् (Reality) है क्या? यह विश्व जो हम देख रहे हैं, इसके अन्तर्गत दार्शनिकों ने एक तथा अनेक की समस्या, द्वैतवाद एवं वहुतत्ववाद की समस्या को जन्म देकर अपनी-अपनी दृष्टि से उसका समाधान देने का प्रयत्न किया है और यही इस पाचवें अध्याय की सामग्री है इस अध्याय के द्वारा यह प्रयत्न किया गया कि आदर्शवादियों, वस्तुवादियों एवं भौतिकवादियों के दृष्टिकोण को सरलता पूर्वक विद्यार्थियों तक पहुँचाया जा सके।

जीवन में किस वात का मूल्य नहीं है? जहाँ प्रणाली ज्ञान, सत्य, सत का मूल्य है वही यह आवश्यक हो जाता है कि मूल्य को भी जाना जावे कि मूल्य स्वत: क्या है? जिसकी चर्चा प्रथम अध्याय में की गई किन्तु मूल्य से सम्वन्धी कुछ प्रश्न जैसे क्या मूल्य आत्मगत है अथवा वस्तुगत? क्या जीवन में तथ्य और मूल्यों का सम्वन्ध है? क्या मूल्यों का आपस में परस्पर सम्वन्ध है? अविवेचित न रह जावे इस कारण पांचवें अध्याय में दार्शनिक दृष्टि से विवेचन किया गया है। क्योंकि मूल्य की समस्या वर्त्तमान में ज्वलंत समस्या है।

प्रणाली, ज्ञान, सत्य, सत, मूल्य आदि पर विचार करना, मानव जीवन पर विचार करना है। मानवीय दृष्टि से यह उचित भी है कि जीवन की सर्वांगिकता के लिए दर्शन शास्त्र के माध्यम से यिचार क्रिया को दृढ़ वनाया जा सके और जीवन में आने वाली समस्याओं का निदान मानव स्वंय ढूढकर जीवन को सार्थक वनासके। प्रणाली ज्ञान, सत्य, सत, मूल्य के प्रत्यय एक दूसरे पर आश्रित है। इस कारण इन विषयों का अध्ययन अपने आप में सार्थक हो जाता है कि प्रत्येक संकाय का विद्यर्थी दर्शन शास्त्र का अध्ययन करें।

सर्वप्रथम मैं मध्यप्रदेश ग्रन्थ अकादमी का आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक को प्रकाशित कर पुस्तक लेखन में मेरे उत्साह को वढ़ाया है।

मैं दर्शन शास्त्र के उन गुरुजनों के प्रति भी, जिनमें मुख्य डॉ० अर्जुन मिश्र, डॉ० सुरेन्द्र वर्मा, डॉ० डी० डी० वंदिष्टे, डॉ० जे० पी० शुक्ला, डॉ० वेंजामीन खान का आभार प्रकट करता हूँ जिनका आर्शीवाद और मार्ग-दर्शन मुझे प्राप्त होता रहा है।

मैं उन लेखकों का भी आभारी हूँ जिनकी पुस्तकों से सामग्री लेकर, संक-लित कर, इस पुस्तक को रूप देने का प्रयत्न किया है।

अन्त में मैं अपनी बेटी श्रीमती छाया टिक्कू और उसके पति सुरेन्द्र टिक्कू का भी आभारी हूँ जो हर पत्र में चंडीगढ़ से लिखते रहे कि मैं शीघ्र ही इस पुस्तक का लेखन कार्य समाप्त कर प्रकाशित करने की व्यवस्था करूँ, उन दोनों की यह प्रेरणा ही मेरे इस लेखन कार्य का सम्बल था।

'आराधना'
27 रविन्द्र नगर
उज्जैन (म० प्र०)

—डॉ० एलरिक बारलो शिवाजी

दर्शन की समस्याएँ

अनुक्रमणिका



अध्याय | 1

प्रणाली की समस्या

दार्शनिक प्रणाली की समस्या आदिकाल से बनी हुई है। प्रणाली विज्ञान (Methodology) का महत्व विज्ञान और कला दोनों में है। हर चिंतक अपनी-अपनी प्रणाली अपनाता है और इस कारण देखा जाता है कि प्रणाली विज्ञान को लेकर चिन्तकों में मतभेद हैं।

"प्रणाली विज्ञान का सम्बन्ध उन प्रक्रियाओं और तकनीक से होता है जो हमारे ज्ञान के विकास में सहायक होते हैं। कहने का अर्थ यह है कि जो कुछ हम जानते हैं और साथ ही जिसको अभी जानना बाकी है, स्पष्ट और न्याय संगत हो सके।"[1]

प्रणाली का उद्देश्य

प्रणाली विज्ञान का उद्देश्य है कि वह यह बताये कि प्रणाली क्या है, क्यों उन्हें माना जाता है और कैसे वे एक दूसरे से सम्बन्धित हैं।

प्रणाली की प्रकृति

प्रणाली की प्रकृति के बारे में बहुधा विचार किया जाता रहा है। थॉमस जे० ब्लेकले का मत है कि "प्रणाली एक बौद्धिक अथवा परिकल्पनात्मक प्रक्रिया है और यह प्रक्रिया निश्चित नियमों के अन्तर्गत कार्य में ली जाती है।"[2]

आदर्शवादियों के लिए प्रणाली नियमों का एक समूह (Set) है जो मानव

---

1. Methodology is concerned with those procedure and techniques which have been devised to aid us in extending our knowledge, that is to say, in clarifying and justifying what we already know as well as in discovering what is still unknown." Basic problems of Philosophy—Ed. D. J. Proustein. p. 1
2. "Method is a rational or speculative procedure and this procedure is carried out according to cetian principles."

बुद्धि के द्वारा जानने में आसानी पैदा करता है। इस कारण आदर्शवादियों के अनुसार प्रणाली आत्मनिष्ठ है।

मार्क्सवाद, प्रणाली की प्रक्रिया, उसका अध्ययन, अन्वेषण सत्य की खोज में वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण अपनाता है।

अर्थक्रियावादियों की दृष्टि में यह बौद्धिक अन्वेषण है। दार्शनिक प्रणाली, विचारों के अर्थ और उनको स्पष्ट करने की प्रणाली है।

ऐतिहासिक दृष्टि से प्रणाली के तीन महत्वपूर्ण प्रकार हैं—कला की प्रणाली, विज्ञान की प्रणाली और दर्शन की प्रणाली। इन तीनों में अलग-अलग प्रकार की प्रणाली काम में ली जाती है। कालीगवुड ने अपनी पुस्तक "An Essay on Philosophical Method" में दर्शन प्रणाली को दो भागों में विभाजित किया है —(1) तर्कशास्त्र और (2) ज्ञानशास्त्र (Epistemology)। इस प्रकार प्रणाली दर्शन का एक अभिन्न अंग है।

दार्शनिक और वैज्ञानिक प्रणाली में अन्तर

यद्यपि दोनों, वैज्ञानिक और दार्शनिक अपनी-अपनी प्रणाली में बुद्धि का उपयोग और सत्य की खोज करते हैं किन्तु दोनों की प्रणाली में भेद है। विज्ञान का सत् (Truth) दर्शनशास्त्र का सत् नहीं है। दूसरा भेद यह कि विज्ञान बौद्धिक है जबकि दर्शनशास्त्र परिकल्पनात्मक (Speculative) है। बुद्धि से बढ़कर है। सत् को प्राप्त करना दार्शनिक प्रणाली का उद्देश्य है। दार्शनिक प्रणाली के वाद-विवाद और तर्क-वितर्क नहीं हैं।

छायाराय ने मांटेग्यू की, दार्शनिक प्रणाली के रूप में आलोचना की है जो यह मानता है कि बुद्धिवाद, अनुभववाद इत्यादि दर्शन की प्रणाली हैं। वास्तविकता में वे दर्शन की प्रणाली नहीं हैं बल्कि दार्शनिक ज्ञान के सिद्धान्त हैं। संक्षिप्त में कहें तो वे संवित शास्त्र के सिद्धान्त हैं। सिद्धान्त तथ्यों के समूह का वर्णन है जबकि प्रणाली नियमों को पालन करने की व्यवस्थित प्रक्रिया प्रणाली तो दरअसल सिद्धान्त में आने की प्रक्रिया है। सिद्धान्त निर्णय है जबकि प्रणाली प्रक्रिया अथवा मार्ग है।[1]

डॉ० अर्जुन मिश्र ने प्रणाली के सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार प्रस्तुत किये हैं :—

"वैज्ञानिक प्रणाली या विधि (Method) की भांति दार्शनिक प्रणाली या विधि, नियत नहीं होती। दर्शन अपनी प्रणाली का रचयिता स्वयं होता है। दर्शन की प्रणाली उसकी समस्याओं को पूर्वकल्पित धारणाओं तथा समस्या की बौद्धिक

---

1. Studies in Philosophical Method—Chhaya Rai, p. 9

पृष्ठभूमि से निर्धारित होती है।"[1] उसकी निम्नलिखित कोटियाँ हैं।

(1) आगमन और निगमन प्रणाली (Inductive and deductive)
(2) विश्लेषणात्मक प्रणाली (Analytical method)
(3) द्वंद्वात्मक प्रणाली (Dialectical method)

ये अपनी पुस्तक 'दर्शन की मूल धाराएँ' में अन्तःप्रज्ञा प्रणाली को भूल से गये हैं। पाठ्यक्रम में आगमन और निगमन प्रणालियों को नहीं लिया गया। इस कारण कि विद्यार्थी इस प्रणाली से अपरिचित न रह जाएँ, संक्षेप में उसका वर्णन किया जाता है जो डॉ० अर्जुन मिश्र के ही शब्दों में इस प्रकार है :—

"दार्शनिक चिन्तन में इन दोनों प्रणालियों का प्रयोग किया जाता है। यह दूसरी बात है कि किसी दार्शनिक सम्प्रदाय में किसी एक प्रणाली पर अधिक बल दिया जाता है तो दूसरे दार्शनिक सम्प्रदाय में दूसरी प्रणाली पर। उदाहरणार्थ तर्क बुद्धिवादी (Ratoinalist) निगमन प्रणाली के कट्टर पक्षपाती थे। उनके अनुसार सारा ज्ञान कुछ सामान्य या सर्वव्यापी तर्क वाक्यों (Universal propositions) से निगमन प्रणाली द्वारा निगमित किया जा सकता है। इसके विपरीत इन्द्रियानुभववादी (Empiricist) सर्वव्यापी तर्क वाक्यों को निराधार और कोरी कल्पना मानते थे। उनके अनुसार ज्ञान का महल एक-एक ईंट रखकर अर्थात् आगमन प्रणाली के द्वारा ही बनाना सम्भव है।"[2]

अगले अध्याय में अन्तःप्रज्ञा, द्वंद्व न्याय और विश्लेषणात्मक प्रणाली की चर्चा करेंगे तब विस्तार से हम समझ सकेंगे कि दार्शनिक प्रणालियों की समस्या क्या है और किस प्रकार दार्शनिक विभिन्न समस्याओं को अपनाते हुए दर्शन की समस्याओं का समाधान ढूंढ़ते हैं।

सत्य की समस्या

दार्शनिकों के बीच आदि काल से सत्य की समस्या चली आ रही है। सत्य के किसी निश्चित अर्थ पर पहुँचना उतना सरल नहीं है। सत्य के विशिष्ट प्रयोगों की बात तो अलग, सत्य के साधारण अर्थ भी स्पष्ट नहीं हैं। वैसे सत्य के साधारण अर्थ में यह शब्द 'असत्य' के विपरीत है। कहने के लिए कहा जा सकता है कि सत्य वह है जो असत्य नहीं है। इस प्रकार जीवन में सत्य और असत्य की बातें होती रहती हैं। यदि ध्यान दिया जावे तो सत्य के साधारण अर्थ में अनुभव जगत् को सत्य माना जाता है, उन सभी पदार्थों को सत्य माना जाता है जिनसे हम घिरे हुए

1. दर्शन की मूल धाराएँ—डॉ० अर्जुन मिश्र, पृ० 34
2. वही, पृ० 35

हैं और जिन्हें हम वास्तविक समझते हैं। सत्य के इस अर्थ में हमारा सामान्य ज्ञान भी इसकी पुष्टि करते हैं। इसी दृष्टि से मूर ने कहा था–"ये मेरे दो हाथ हैं और कोई कारण नहीं कि मैं इन्हें सत्य न मानूँ।" किन्तु कुछ ऐसे भी सत्य हैं जिनका प्रत्यक्ष नहीं होता। मनुष्य के सामने सत्य को लेकर एक समस्या यह उत्पन्न होती है कि क्या किसी व्यक्ति का कथन सत्य है अथवा नहीं। ग्रीक दर्शन में सोफिस्ट यह बताते हैं कि एक ज्ञाता को जो सत्य जान पड़ता है उसके लिए वही सत्य होता है और इस प्रकार वे वस्तुगत सत्य को न मानते हुए आत्मगत सत्य को मानते हैं।[1] ज्ञान को लेकर 'बुद्धिवादियों' एवं अनुभववादियों में सत्य के संबंध में मतभेद उत्पन्न हो गये और एक समस्या बन गई कि सत्य क्या है?

सत्य क्या है

दर्शन शास्त्र में सत्य क्या है, एक शाश्वत समस्या है। सत्य कभी भी पुराना नहीं होता और न ही प्रतिदिन अन्वेषित (Discovered)होता है[2] पृथक्-पृथक् दार्शनिक सत्य की अलग-अलग व्याख्या करते हैं। बुद्धिवादियों ने निरपेक्ष सत्य (Absolute truth) को माना है क्योंकि जो एक बार सत्य है वह सदैव सत्य है। यदि तात्विक दृष्टि से सत्य का अन्वेषण किया जाये तो हम यह पाते हैं, जिसको हम सत्य की परिभाषा भी कह सकते हैं कि "तात्विक भूमिका में सत्य का अर्थ होता है वह तत्व जिसकी सत्ता (Existence) स्वतः सिद्ध होती है अथवा जिसका अस्तित्व अपने आप में होता है, निरपेक्ष रूप से जो है और रहता है, वह अपने आपमें सत् है।"[3]

जोकिम ने 'दी नेचर-ऑफ-ट्रुथ' में लिखा है कि सत्य दो निर्धारित पक्षों (Determinate factor) के आपसी सम्बन्धों का अनुभव है।[4] टिप्पणी में वह लिखता है कि "सत्य स्वयं पर निर्भर है और उसकी प्रकृति को मनोवैज्ञानिक विचार की अनर्थ भूमिका से नहीं मिलाना चाहिए।"[5] पर जोकिम अलग-अलग रूप से सत्य के बारे में कहता है कि सत्य, सत्य नहीं होता जब तक कि उसे मान्यता नहीं मिल

---

1. A History of Philosophy—Jhilley p. 57
2. "Truth is never out grown nor is it discovered everyday.
3. दार्शनिक त्रैमासिक वर्ष 13 अक्टूबर 1967, अंक 4, 'सत्य और सौंदर्य— बसन्त कुमार लाल, पृ० 220
4. "Truth is an experience of two factors determinatelyt related to one another.' p. 8
5. "Truth, we may insist, is independent and its nature must not be confused by the irrelevant introduction of 'Psychological notion' Foot note p. 8

जाती। सत्य मेरे विचार से स्वतन्त्र होता है और फिर मेरे उस सोचने की प्रक्रिया से भी स्वतन्त्र होता है जिसके कारण से मैं सोचता हूँ।[1]

जोकिम एक अन्य स्थान पर लिखता है कि "सत्य समय-भाव है और उसमें परिवर्तन नहीं होता।"[2]

ब्रैडले ने 'Essays on Truth and Reality' में निम्नलिखित विचार व्यक्त किये हैं :—

"Truth is merely the ideas which are felt in a certain way and are felt *to dominate in a mind or in a set of minds*, and any further question as to their truth is senseless. (P. 112)

बी० के० भट्टाचार्य अपनी पुस्तक 'Logic value and Reality' में सत्य के बारे में कहते हैं कि 'सत्य हमेशा निर्णयों के क्षेत्र में पाये जाते हैं।'[3]

दार्शनिकों के उपरोक्त कथनों में हमने देखा कि सत्य की समस्या कितनी उलझी हुई है। यह कहा जाता है कि "दार्शनिक समस्याओं का हल काल क्रम में नहीं होता और न ही दार्शनिक चिन्तन के किसी स्तर पर यह कहा जा सकता है कि अमुक दार्शनिक समस्या का निदान कर दिया गया है। बहुधा एक दार्शनिक प्रश्न का समाधान कई नवीन समस्याओं को जन्म दे देता है, जो उस उत्तर से उद्भूत होती है अन्यथा नहीं। दार्शनिक समस्या की यह विशेषता है कि न तो इसका कोई अन्तिम समाधान ही हो सकता है, न उसे तिरोहित ही किया जा सकता है। शुद्ध दार्शनिक प्रश्न का लक्षण समाधान द्वारा नवीन दार्शनिक समस्याओं को जन्म देता ही है।"[4]

सत्य क्या है यह तो दार्शनिकों की मौलिक समस्या है ही किन्तु, एक समस्या यह भी है कि विचार का सत्य से क्या सम्बन्ध है। क्या विचार ही सत्य है, अथवा सत्य ही विचार है। इस संदर्भ में एफ० एच० ब्रैडले 'आभास और सत्' में लिखते हैं कि "हमारे सामने एक बड़ी समस्या यह उपस्थित होती है कि विचार का सत् से क्या सम्बन्ध है ? क्योंकि यदि इस बात को अस्वीकार करने की गलती करें भी कि समस्त सत्य विचार मात्र हैं, तो कम से अधिकांश सत्य के विषय इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकते और इस बात से तो हम मुश्किल से ही असहमत होंगे कि सत्य से बुद्धि की सन्तुष्टि होती है।"[5]

---

1. The Nature of truth—Jochim p. 14
2. Truth is timeless and cannot alter" p. 87
3. Logic value and Reality—B.K. Bhattacharya. p. 83
4. दार्शनिक त्रैमासिक [redacted] 13 अक्टूबर 1967, अंक 4, पृ० 153
5. आभास और सत्—ब्रैडले, पृ० 486

सत्य की प्रकृति

दार्शनिक सत्य की प्रकृति को अलग-अलग ढंग से देखते हैं। इस कारण दार्शनिक जगत् में सत्य की प्रकृति भी एक समस्या है। जोकिम यह बताता है विचारणीय की योग्यता (Conceivability) सत्य की मुख्य प्रकृति है। हमारे लिए विचारने का अर्थ है स्पष्ट और तार्किक दृष्टि से सोचना।[1]

डेकार्ट सत्य की प्रकृति के बारे में दो बात कहता है कि सत्य की प्रकृति स्पष्ट तथा परिस्पष्ट (Clarity) है। स्पष्ट का अर्थ यहाँ यह है कि वह प्रत्यय, जिसका बोध हमारी सहज बुद्धि को तुरन्त साफ-साफ तथा असंदिग्ध रूप से हो जाए, और परिस्पष्ट वह है जिसके एक-एक अंग अथवा अंश का बोध इतना निश्चित हो जाएँ कि फिर उस प्रत्यय (अथवा वस्तु) को किसी अन्य प्रत्यय से हम सरलता से अलग कर सकें।[2] डेकार्ट के अनुसार यह सत्य की कसौटी भी है जिसका वर्णन हम आगे, 'डेकार्ट के अनुसार सत्य' में करेंगे।'

संक्षेप में कहें कि बुद्धिवादी स्पष्टता (Clearnss) और सुभिन्नता (Distinct-ness) को सत्य का लक्षण मानते हैं जबकि अनुभववादी सत्य के संवादिता सिद्धान्त (Correspondence theory of truth) में विश्वास करते हैं।

कुछ दार्शनिक यह मानते हैं कि सत्य अनिवार्य होते हैं किन्तु कुछ दार्शनिक सत्य को अनिवार्य व निश्चयात्मक नहीं मानते वे केवल उसे संभाव्य मानते हैं।

सत्य की एक अन्य समस्या के बारे में एफ० एच० ब्रैडले का कथन है कि "वास्तविक समस्या यह है कि परम सत् के साथ आभास एवं असत् और सामान्यत: ससीम-जीवन मात्र की संगति कैसी बैठाई जाय ?"[3]

सत्य एक है या अनेक। यह दार्शनिकों के लिए और एक समस्या है।

जी० ई० मूर ने एक समस्या और उठाई है कि क्या सत्य और विश्वास की सही प्रक्रिया एक ही है। दूसरी ओर वह तर्क वाक्य (Proposition) और सत्य में भेद करता है। इस सम्बन्ध में वह लिखता है :—

"By a 'truth' therefore, I mean something which is neither a true act of belief, nor a true proposition (Supposing there is

1. "Conceivability is the essential nature of truth. To 'conceive' means forus to think out clearily and logically.—The Nature of Truth p. 66.
2. पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग—तिवारी, पृ०
3. आभास और सत्—ब्रैडले, पृ० 132

such a thing). It is something which corresponds to both, but is not identical with either. And to avoid all danger of its being identified with either is the chief reason for calling truths 'fact', rather than 'truths.'[1]

सत्य की उपयोगिता की भी एक समस्या है। क्या मानव-जीवन में सत्य की उपयोगिता की, जिसकी वह खोज में है, उपयोगिता है ?

कुछ दार्शनिकों की समस्या यह है कि क्या सत्य गुण है ? क्योंकि वे निर्णयों और तर्क वाक्यों के गुण के रूप में सत्य की व्याख्या करते हैं जैसा कि शिलर का मत है।

एक अन्य समस्या यह है कि क्या सत्य स्वयंसिद्ध ज्ञान है ? क्योंकि शिलर ने इसके विरोध में आरोप लगाये हैं।

सत्य की समस्या में यह भी पूछा जाता है कि क्या सत्य अमूर्त्त जगत में होता है अथवा मूर्त्त जगत में ?

समस्या यह भी है कि क्या सत्य स्थायी होता है अथवा सत्य गतिशील है ?

अन्तिम समस्या है कि क्या जीवन में सत्य का पूर्ण अनुभव होता है ?

सत्य के सिद्धान्त

बुद्धिवादी या प्रत्ययवादियों और अनुभववादी या यथार्थवादियों ने सत्य की भिन्न-भिन्न रूप से व्याख्या की है। दर्शन-जगत् में चार मत है जो इन दार्शनिकों ने सत्य के सम्बन्ध में प्रतिपादित किये हैं :—

(1) स्वतः प्रामाण्यवाद (Selfev idence theory)

(2) अनुकूलतावाद (Correspondence theory)

(3) अवधितावाद अथवा सामंजस्यवाद (Coherence theory)

(4) उपयोगितावाद अथवा अर्थक्रियावाद (Pragmatic theory)

इस इकाई में यहाँ हम केवल स्वतः प्रमाण्यवाद की व्याख्या करेंगे।

इस मत के प्रमुख प्रवर्तकों में डेकार्ट तथा लॉक का नाम लिया जाता है जो कि परिस्पष्टता (Obviousness) पर बल देते हैं। दया कृष्ण उनके लेख 'अनुभव-वाद' में लिखते हैं कि "स्वतः सिद्ध सिद्धान्तों की खोज करने वाले दार्शनिकों में डेकार्ट का नाम प्रसिद्ध है।" मैं यह संदेह नहीं कर सकता कि मैं संदेह कर रहा हूँ' उनके दर्शन की आधार शिला है।[2] डेकार्ट वौद्धिक अनुभव की परिस्पष्टता (Obviousness) पर, लॉक इन्द्रिय-जन्य अनुभव के सरल प्रत्ययों की परिस्पष्टता पर

---

1. Some main Problems of Philosophy—G. E. Moore, p. 309
2. अनुभववाद—स० यशदेव शल्य, पृ०

विशेष वल देते हैं। स्वतः प्रामाण्यवाद अथवा स्वयं सिद्धिवाद या सहज स्पष्टतावाद हमारे अनुभव की परोक्ष स्पष्टता एवं यथार्थ की सीधी सरल अनुभूति पर निर्भर है। स्वतः प्रामाण्यवाद में स्वयं सिद्ध मान्यताओं के लिए किसी अतिरिक्त प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती है। उदाहरण के तौर पर हम स्पिनोजा द्वारा वताये सत्य और असत्य के लक्षणों को ले सकते हैं। स्पिनोजा तीन प्रकार के ज्ञान की सत्यता के विषय में कहता है।

आलोचना

कोई वात स्वतः सिद्ध है, यह आज का दार्शनिक अस्वीकार करता है। उदाहरण के तौर पर रेखागणित की स्वतः सिद्ध मान्यताएँ (Axioms) आज केवल 'मान्यताएँ (Assumptions) ही रह गई है। यदि आप चाहें तो विभिन्न मान्यताएँ मानकर चल सकते हैं। जो माना गया है वह सच-झूठ नहीं होता। वह केवल माना गया है। 'सत्यता' का प्रश्न रेखागणित को देखकर तय नहीं किया जा सकता। दो तथ्यों के आधार पर स्वतः प्रामाण्यवाद की आलोचना की जाती है।

(1) परिस्पष्टता (Clarity) मात्र ही सत्य की परीक्षा नहीं हो सकती है। दर्शन और विज्ञान के इतिहास में वहुत से सिद्धान्त हैं। जव उन सिद्धान्तों का अन्वेषण किया गया था, वे सत्य माने गये थे, किन्तु वाद में वे सिद्धान्त अस्वीकार कर दिये गये। उदाहरणस्वरूप न्यूटन के दिक्-काल के सिद्धान्त को ले सकते हैं। किन्तु इस सिद्धान्त को आइन्स्टीन ने असिद्ध कर दिया।[1] इस तरह "स्वयं सिद्ध परिस्पष्टता सत्य की पूरी-पूरी तथा उचित कसौटी नहीं कही जा सकती। लोगों को स्वयं सिद्ध सत्य दिखाता तो यह है कि सूर्य सवेरे निकलकर संध्या तक पृथ्वी की परि-क्रमा या यात्रा कुछ मात्रा में कर लेता है जवकि यथार्थ में वात कुछ और ही है अर्थात् पृथ्वी ही सूर्य की परिक्रमा करती है।"[2]

(2) अनुभव भी सत्य की कसौटी नहीं हो सकती। जीवन में इंद्रियों द्वारा ऐसे अनुभव होते हैं जो दिखते कुछ हैं किन्तु वास्तविकता कुछ अलग होती है। पृथ्वी हमें चपटी नजर आती है। जवकि यथार्थ में वह गोल है।

प्रवास जीवन चौधरी ने अपने लेख 'सत्य का अर्थ तथा प्रमाणीकरण' में अपने ही ढंग से स्वतः सिद्ध सिद्धान्त की आलोचना की है। वे अपने लेख में लिखते हैं—"स्वतः सिद्ध सत्य विषयनिष्ठ (Objective) तथा सर्वजन सुलभ (Fublic) नहीं होते। वे या तो व्यक्तिगत आभासों के वाचक प्राक्कथन होते हैं अथवा शाब्दिक व तार्किक उपलक्षणों (Implication) के वाचक होते हैं, अतः ये उपयुक्त निर्णय

---

1. Problems of Philosophy—Ram Nath Sharma, p. 389
2. पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग—तिवारी, पृ. 66

वाक्य अथवा पदार्थ वाक्य (Material sentences) नहीं हो सकते। स्वतः सिद्ध सत्यों की अवधारणा तथ्यों के वाचक-प्राक्कथनों पर लागू नहीं हो सकती।[1]

अब हम संक्षेप में, कुछ दार्शनिकों के सत्य के सम्बन्ध में मतों का अध्ययन करेंगे, ताकि जान सकें कि दार्शनिक किस प्रकार 'सत्य' की व्याख्या करते हैं।

प्लेटो के दर्शन में सत्य

प्लेटो ने अपने दर्शन में स्पष्ट किया है कि सत्य, वस्तु स्वलक्षण (Thing in *itself*) का ज्ञान है। प्लेटो प्रत्ययों को सत्य तथा विशेषों को आभास बताता है। सत् शाश्वत, ध्रुव, अनन्त, ही हो सकता है। प्लेटो ने विज्ञान को ही सत् कहा है और इस प्रकार उसके दर्शन में सत्य (Truth) और सत्ता अथवा यथार्थता (Reality) का द्वैत है। सत्ता आभास है किन्तु प्रश्न यह है कि सत्ता, सत्य की नहीं तो किसकी है। स्टेस ने उसकी 'Outlines of the History of Greek Philosophy' में आरोप लगाते हुए लिखा है कि प्लेटो पर महान् पाप करने का आरोप लगाया जा सकता है।[2]

डेकार्ट के दर्शन में सत्य

डेकार्ट बुद्धिवादी दार्शनिक था। उसकी मान्यता थी कि सत् हमारी आत्मा में निहित रहते हैं। इस प्रकार वह जन्म-जात विचारों (Innate ideas) के सिद्धान्त में विश्वास करता था। पूर्वाग्रहों को वह सत्य की संज्ञा नहीं देता। वह कहता है कि "समस्त दृष्टि-सृष्टि को मैं झूठी मानता हूँ। मैं विश्वास करता हूँ कि धोखेबाज स्मृति में आने वाली कोई वस्तु सत्य नहीं है। मैं मानता हूँ कि मेरे इन्द्रियाँ नहीं हैं। मैं विश्वास करता हूँ कि वस्तु, आकार, विस्तार गति और देश हमारे मानस की कल्पनाएँ हैं। यहाँ यह क्या है जिसे सत्य कहा जाये? शायद केवल यह कि निरपेक्ष रूप से कुछ सत्य नहीं है? लेकिन इसी द्वितीय चिन्तन के अन्त में पूछता है कि "क्या मैं वही सत् नहीं हूँ जो इस समय लगभग सभी वस्तुओं पर सन्देह प्रकट करता हूँ।" यही वह स्वयं सिद्ध सत्य है जो तत्व ज्ञान का प्रारम्भ बिन्दु है। यही निरपेक्ष सत्य समस्त सत्यों की कसौटी है और इसी सत्य को पूर्ण स्पष्टता के साथ पहचाना जा सकता है। सत्य की कसौटी स्पष्टता को मानकर डेकार्ट के लिए यह आवश्यक हो गया था कि वह ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करे

---

1. दार्शनिक त्रैमासिक वर्ष—4 अक्टूबर 1958 अंक—4, पृ० 54
2. Out lines of the History of Greek Philosophy—W.T. Stace, p० 247. Refer also पाश्चात्य दर्शन का इतिहास–जगदीश प्रसाद अवस्थी पृ० 43

और प्रमाण दे कि वह ईश्वर को धोखा नहीं दे रहा है।[1] श्री तिवारी डेकार्ट के अनुसार सत्य की कसौटी निम्न रूप से दर्शाते हैं :—

"डेकार्ट का मन्त्र "मैं सोचता हूँ, अतः मैं हूँ" इसलिए सत्य है कि यह स्पष्ट तथा परिस्पष्ट है। 'स्पष्ट' का अर्थ यह है, वह प्रत्यय जिसका वोध हमारी सहज बुद्धि को तुरन्त साफ-साफ तथा असंदिग्ध रूप से हो जाए, और परिस्पष्ट वह है जिसके एक-एक अंग अथवा अंश का वोध इतना निश्चित हो जाए कि फिर उस प्रत्यय (अथवा वस्तु) को किसी अन्य प्रत्यय से हम सरलता से अलग कर सके।"

"ये दोनों लक्षण—स्पष्टता और परिस्पष्टता-डेकार्ट के उपर्युक्त सिद्धान्त में भली-भाँति मिलते हैं। हमें चाहे अपनी इन्द्रियों की प्रतीतियों में और विज्ञान की प्रतीतियों में सन्देह भी हो, पर अपनी ही मानसिक अनुभूति (कि, "मैं सोचता हूँ") पर कोई सन्देह नहीं होता है। संसार की सभी वस्तुओं के लिए किसी प्रकाश अथवा प्रमाण की आवश्यकता भले ही हो, पर डेकार्ट के अनुसार हमें, (स्वयं) अपने अस्तित्व पर सन्देह नहीं होता है। इस प्रकार यह प्रत्यय स्पष्ट तथा परिस्पष्ट है। अतः और सभी वातें जो इस प्रत्यय के समान स्पष्ट और परिस्पष्ट हों, वे भी सत्य होंगी।"

यह स्पष्टता मनोवैज्ञानिक अथवा सापेक्ष अथवा विषयीगत नहीं है, वरन् तार्किक और वस्तुनिष्ठ (Objective) है। डेकार्ट की उपर्युक्त दार्शनिक विधि में निगमनात्मक और आगमनात्मक अंश दोनों हैं।"[2]

आलोचना

जगदीश सहाय श्रीवास्तव लिखते हैं कि "डेकार्ट के सत्य का मापदण्ड" (Criterion of truth) भी वस्तुनिष्ठ नहीं प्रतीत होता वह स्पष्टता (Clearness) और सुभिन्नता (Distinctness) को सत्य के लक्षण मानता है। उसने सुभिन्नता की तो स्पष्ट व्याख्या दी है पर स्पष्टता की उसने कहीं भी स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत नहीं की है। उसने केवल इतना ही कहा है कि जो सावधान बुद्धि से जाना जाता है वह स्पष्ट होता है। यह व्यक्तिनिष्ठ लक्षण ही प्रतीत होता है क्योंकि सावधान बुद्धि का क्या गुण और परिमाण है इसका डेकार्ट ने कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है।[3] 'पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग' में तिवारी ने लिखा है।" (अ) "परिस्पष्टता मात्र ही सत्य की परीक्षा नहीं हो सकती, (व) स्वयं सिद्ध परिस्पष्टता सत्य की पूरी-

1. पाश्चात्य दर्शन का इतिहास—ज० प्र० अवस्थी, पृ० 135-136
2. पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग—तिवारी, पृ० 244
3. आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास—जगदीश सहाय श्रीवास्तव, पृ० 117

पूरी तथा उचित कसौटी नहीं कही जा सकती। लोगों को स्वयं सिद्ध सत्य के समान दिखता तो यह है कि सूर्य सवेरे निकलकर संध्या तक पृथ्वी की परिक्रमा या यात्रा, कुछ मात्रा में कर लेता है किन्तु यथार्थ वात कुछ और ही है अर्थात् पृथ्वी ही सूर्य की परिक्रमा करती है।"[1]

स्पिनोजा के दर्शन में सत्य

स्पिनोजा ने कहा है कि द्रव्य एक ही है जो अनन्त तथा स्वंभू है। स्पिनोजा के लिए वास्तविकता (Reality) अपने मूल स्वरूप में एक ही है जो एक साथ चेतना भी है और विस्तार युक्त भी।[2] किन्तु प्रश्न यह है कि सत्य को असत्य से कैसे पहचाना जाये ? इस सन्दर्भ में डॉक्टर दीवान चन्द निम्नलिखित रूप से वर्णन करते हैं :—

पहली वात तो यह है कि यह भेद प्रत्ययों में नहीं होता, अपितु निर्णयों या वाक्यों में होता है। 'सोने का पहाड़', 'परों वाला हाथी' प्रत्यय हैं। इनके सत्य-असत्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता। जव मैं कहता हूँ कि ऐसा पहाड़ या हाथी विद्यमान है, तो सत्य-असत्य होने का प्रश्न उठता है। एक प्रचलित विचार के अनुसार, जहाँ चेतना और चेतना के विषय में अनुकूलता हो, निर्णय सत्य है, जहाँ यह अनुकूलता न हो, निर्णय असत्य है। स्पिनोजा ने भी यही कहा है। परन्तु उसकी धारणा यह है कि एक ही सत्ता या द्रव्य में, चेतना और विस्तार दोनों गुण एक साथ पाये जाते हैं, और जहाँ एक प्रकार की पंक्ति में परिवर्तन होता है, वहाँ दूसरे प्रकार की पंक्ति में भी उसके मुकाविल परिवर्तन अवश्य होता है। इसका अर्थ यह है कि हमारी प्रत्येक चेतना किसी 'चेत्य' (शारीरिक परिवर्तन) की चेतना होती है। ऐसी अवस्था में कोई प्रतिज्ञा अपने आप में पूर्णतया असत्य नहीं है। जव मैं सड़क पर चलते हुए छड़ी को सीधी देखता हूँ तो एक शारीरिक प्रतिक्रिया का वोध होता है, जव इसे पानी में टेढ़ी देखता हूँ तो भी एक शारीरिक प्रतिक्रिया का वोध होता है। यहाँ तक दोनों वोध सत्य हैं। जव मैं इन वोधों को अन्य वोधों के साथ देखता हूँ तो इनमें से एक उनके अनुकूल होता है, दूसरा अनुकूल नहीं होता। इस भेद की नींव पर मैं सत्य और असत्य निर्णयों में भेद करता हूँ।"

"जो निर्णय अन्य निर्णयों के साथ, एक व्यवस्था का अंश वन सकता है, वह सत्य है, जो व्यवस्था का अंश नहीं वन सकता, वह असत्य है।"

---

1. पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग—तिवारी, पृ० 66
2. दार्शनिक त्रैमासिक वर्ष 13 अक्टूबर 1967, अंक 4, पारम्परिक दर्शन की सामायिकता—चांदमल, पृ० 149

स्पिनोजा ने सत्य में परिमाण-भेद भी ज्ञापित किया है। पूर्ण, निरपेक्ष अयथार्थता कहीं भी विद्यमान नहीं होती।[1]

इस प्रकार कोई वस्तु अपनी समग्रता में जो है वही उस का सत् है। वह डेकार्ट की तरह स्पष्टता और सुनिश्चितता को तो मानता है किन्तु एक लक्षण और जोड़ देता है। वह है निश्चयात्मकता (Certainity) वह सामंजस्य (Coherence) सिद्धान्त को मानता है और कहता है. "सत्यता के स्वरूप के विषय में यह निश्चित है कि किसी सत्य विचार को असत्य विचार से केवल बाह्य लक्षणों द्वारा पृथक् नहीं किया जा सकता, प्रत्युत विशेषतः आन्तरिक लक्षणों द्वारा ही ऐसा किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी कारीगर ने किसी मकान की वास्तविक अव-धारणा की है, यद्यपि वह मकान अस्तित्व में न था, न है और न कभी रहेगा, तो भी उसकी अवधारणा सत्य है और उसकी अवधारणा वही है चाहे वह मकान हो या न हो। यहाँ स्पिनोजा ने अनुरूपता को सत्य की कसौटी न मानकर सामंजस्य को सत्य की कसौटी माना है। वास्तव में सामंजस्य और अनुरूपता एक दूसरे के विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं।"[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्पिनोजा सत्य के सामंजस्य सिद्धान्त (Coherence theory) को अपने दर्शन में सर्वाधिक महत्व देता है।

लाइब्निज के अनुसार सत्य

लाइब्निज ईश्वर के अस्तित्व को बताने के लिए पर्याप्त हेतु की युक्ति देता है और इसी दृष्टि से उसने सत्य के दो प्रकार माने हैं।" प्रथम तर्कणा के सत्य (Truths of Reasoning) और द्वितीय तथ्यों के सत्य (Truths of facts)। तर्कणा के सत्य की कसौटी व्याघात नियम (Law of contradictions) है पर तथ्यों के सत्य की कसौटी उनकी पर्याप्त-कारणता (Sufficient reason) है। जिस घटना के घटित होने के पर्याप्त कारण हैं वह घटना सत्य है और जिसके घटित होने के पर्याप्त हेतु नहीं हैं वह असत्य है। तर्कणा के सत्य अनिवार्य (Necessary) होते हैं पर तथ्यों के सत्य केवल सम्भाव्य (Probable) ही होते हैं।"[3]

ईश्वर के अस्तित्व के संबंध में लाइब्निज नित्य सत्यों की युक्ति (Argument from eternal truth) देता है और मानता है कि सत्य दो प्रकार के होते हैं : प्रथम अनिवार्य सत्य (Necessary truths) और द्वितीय आपातिक सत्य (Contingent

1. पाश्चात्य दर्शन—दीवान चन्द, पृ० 120-121
2. आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास—जगदीश सहाय श्रीवास्तव, पृ० 156
3. वही, पृ० 202

truths)। "वर्षा हो रही है" यह आपतिक सत्य है पर "2+2=4" यह एक अनिवार्य सत्य है। वे सारे तर्क वाक्य जिनका सम्बन्ध सत्ता से न होकर केवल सत्य से होता है, या तो सर्वथा सत्य होते हैं या सर्वथा असत्य। उन तर्क वाक्यों को जो सर्वथा सत्य होते हैं, नित्य सत्य (Eternal truths) कहते हैं।"[1] लाइब्निज भी सामंजस्य के सिद्धान्त को मानता है क्योंकि आपतिक सत्यों की सत्यता का हेतु नित्य सत्यों में ही पाया जा सकता है तथा नित्य सत्यों की सत्यता किसी नित्य आत्मा पर ही आश्रित होती है।

आलोचना

लाइब्निज के सत्य की समीक्षा में कहा जा सकता है कि उसमें तात्विक उद्देश्य भले ही हो पर वे तार्किक उद्देश्य नहीं हो सकते। यदि यह मान भी लिया जाए कि सभी तर्क वाक्य विश्लेषणात्मक होते हैं, तो फिर लाइब्निज को अनिवार्य (Necessary) और आपतिक (Contingent) इन दो प्रकार के सत्यों तथा उनकी सत्यता की कसौटी के रूप में व्याघात नियम (Law of contradiction) एवं पर्याप्त हेतु नियम (Law of sufficient reason) इन दो कसौटियों को मानने की क्या आवश्यकता थी? ये बातें उनकी इस मान्यता के बिल्कुल विपरीत हैं कि तार्किक उद्देश्य एवं तात्विक उद्देश्य एक ही है।[2]

लॉक के दर्शन में सत्य

लॉक अनुभववादी दार्शनिक है। वह निरपेक्ष सत्य या निश्चयात्मकता को प्राप्त करना असम्भव मानता है। वह यह मानता है कि सत्तात्मक सत्यों (Existential truths) का विज्ञान नहीं निर्मित किया जा सकता। किन्तु, लॉक ने सहज ज्ञान (Intuitive knowledge) को महत्व दिया है और इस कारण सत्यों का सहज ज्ञान से विरोध नहीं होना चाहिए। लॉक ने सत्य की परिभाषा में कहा है कि "संकेतित वस्तुओं की संगति या असंगति के अनुसार संकेतों की संगति या असंगति को सत्य कहते हैं।" एक अन्य स्थान पर उसका कथन है कि "विज्ञानों और वस्तुओं की सत्ता के बीच की अनुरूपता को ही सत्य कहते हैं।"[3] जिन तर्क वाक्यों की तथ्यों के साथ संवादिता (Correspondence) होती है वे यथार्थ कहे जाते हैं पर जिनकी तथ्यों के साथ संवादिता नहीं पाई जाती वे अयथार्थ कहे जाते हैं।

---

1 आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास—जगदीश सहाय श्रीवास्तव, पृ० 203
2. वही—पृ० 208
3. निबन्ध IV 5, 2—"Truth is a "conformity between our ideas and the reality of things."

आलोचना

लॉक के सत्य के सिद्धान्त का दार्शनिकों ने सन्तोषजनक नहीं माना। राम नाथ शर्मा अपनी पुस्तक 'समकालीन दर्शन' में कथन करते हैं, "लॉक के अनुसार केवल प्राथमिक विचार ही वस्तुगत है, उनसे जो जटिल विचार बनते हैं वे कहाँ तक वस्तुगत हैं यह निश्चय करने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। हम वस्तुओं को प्रत्यक्ष रूप से नहीं जानते बल्कि विचारों के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप से जानते हैं। अस्तु, विचारों के सत्य की परीक्षा स्वयं वस्तु से उसकी तुलना करने से नहीं जानी जा सकती, क्योंकि स्वयं वस्तु को हम नहीं जानते। इस प्रकार हमारे गौण और जटिल विचार आत्मगत बन जाते हैं और उनकी सत्यता की एक मात्र कसौटी यही रह जाती है कि वे परस्पर कहाँ तक समीचीन और अनुकूल हैं। परन्तु फिर इस प्रकार के निष्कर्ष से स्वयं यथार्थवाद का खण्डन होता है।"[1]

बर्कले का सत्य का सिद्धान्त

"बर्कले ने सत्य और असत्य में भेद करने के लिए एक और कसौटी दी है। वे विज्ञान जो हमारे समक्ष एक निश्चित क्रम में उत्पन्न होते हैं सत्य तो हैं पर जो विज्ञान यदृच्छया या असंबद्ध या अनिश्चित क्रम (Unsettled order) में उत्पन्न होते हैं वे असत् हैं। प्रश्न यहाँ यह उत्पन्न होता है कि क्या हमें प्रकृति के निश्चित क्रम की कभी जानकारी होती है?"[2]

बर्कले स्पष्टता (Clearity) और सजीवता (Vividness) की कसौटी द्वारा सत्य और असत्य के बीच भेद करने का प्रयत्न करते हैं। पर इस कसौटी को भी बहुत उपयोगी नहीं माना जा सकता। वास्तव में बर्कले ने सत्य और असत्य का निरूपण तो अवश्य किया पर उन्होंने सत्य की कोई ऐसी कसौटी प्रदान नहीं की जिसके द्वारा सत्य या असत्य का स्वयं निर्णय किया जा सके।

आलोचना

बीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक जी० ई० मूर ने बर्कले के विज्ञान-वाद का खण्डन करते हुए कहा कि बर्कले ने विज्ञानवाद की वस्तुनिष्ठता या ईश्वर केन्द्रता की बिल्कुल उपेक्षा की है। मूर ने सत्य और दृश्य शब्दों को ही खण्डन का विषय बनाया। यदि सत्य ही दृश्य है तो इस तर्क वाक्य में सत्य और दृश्य के बीच या तो पूर्ण तादात्म्य, या अपूर्ण तादात्म्य और अथवा अनुमेयता का सम्बन्ध हो सकता है। यदि सत्य दृश्य में पूर्ण तादात्म्य है तो 'सत्य दृश्य' तर्क वाक्य द्विरुक्ति

1. समकालीन दर्शन—रामनाथ शर्मा, पृ० 227
2. आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास—जगदीश सहाय श्रीवास्तव, पृ० 304

(Tautology) होगा जो किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करता।[1]

वर्कले के विचारों की आलोचना प्रो० मूर के अतिरिक्त रसेल और प्राइस ने भी की है। श्रीवास्तव का कथन है कि "इन दार्शनिकों ने वर्कले की आलोचना सहानुभूति पूर्वक नहीं की है क्योंकि उनके सभी खण्डन वर्कले के दर्शन की गलत व्याख्या पर आधारित हैं। इनमें रसेल का खण्डल अधिक महत्वपूर्ण है।"[2]

ब्रैडले की सत्य की अवधारणा

रामनाथ शर्मा का कथन है कि, "ब्रैडले सत्य की समस्या की ओर निरपेक्षवादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है। उसके अनुसार प्रत्येक यथार्थ वस्तु के दो पहलू हैं, अस्तित्व और चरित्र, क्रमशः तत् (That) और सत् (What)। अब विचार, अस्तित्व और चरित्र में भेद करता है और फिर उन्हें एक उद्देश्य (Subject) और विधेय (Predicate) के रूप में एक निर्णय में बाँधता है। निर्णय सत् को समझने का विचार का प्रयास है। यह रूप और अन्तर्वस्तु में अन्तर की सहायता से किया जाता है जो कि निर्णय के द्वारा जुड़े रहते हैं।" प्रत्येक निर्णय में वास्तविक विषयी सत् है, जो कि विषय के परे जाता है और विषय जिसका विशेषण है।"[3] इस प्रकार ब्रैडले के अनुसार, "निर्णय मूल रूप से दो पहलुओं का पुनर्संगठन है। सत् और तत् जो कि प्रत्यक्षीकरण या चिन्तन नहीं कर सकता। इसलिए वह सत् के एक विशिष्ट पहलू को चुन लेता है जो कि उसका प्रयोजन सिद्ध करता है। इस प्रक्रिया में विचार एक विशेषण को अलग कर लेता है जो सत् का होते हुए भी उससे अलग कर दिया गया है और यह निर्णय के रूप में किया गया है। अब विचार के द्वारा सत् के एक अंश पर लागू किया हुआ विशेषण उससे समन्वित अथवा असमन्वित हो सकता है। यदि वह समन्वित है तो निर्णय सत्य है, क्योंकि ब्रैडले के अनुसार, "सत्य को आन्तरिक समन्वय का लक्षण दिखलाना चाहिए।"[4] इस प्रकार का समन्वय तभी होता है जबकि उद्देश्य और विधेय में कोई भी विरोध नहीं होता। अस्तु, सत्य, समीचीनता, समन्वय और अविरोध में रहता है। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि जब उद्देश्य और विधेय दोनों सत् में होते हैं तो उनमें समन्वय

---

1. आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास—जगदीश सहाय श्रीवास्तव, पृ० 302
2. वही, पृ० 305।
3. In every judgement the genuine subject is reality, which goes beyond. The predicate and of which the predicate is an adjective." Appearance & Reality—Bradley, p. 145
4. "Truth must exhibit the mark of internal harmony." Appearance and Reality—Bradley, p. 321

की कमी कैसे हो सकती है ? विचार केवल उसे फिर से जोड़ देता है, जो सत् से अलग हुआ है। तब फिर किसी विशेषण को सत् से अलग कैसे किया जा सकता है ? सूक्ष्म परीक्षा करने पर यह आक्षेप सत् ही प्रतीत होता है जैसा कि ब्रैडले ने दिखलाया है। यद्यपि सभी विशेषण सत् से अलग किये होते हैं और इस उससे असमीचीन नहीं होने चाहिए। फिर भी यह सम्भव है कि एक अंश से लिया हुआ विशेषण भिन्न अंश पर लागू करने पर समीचीन न हो। इस प्रकार जबकि कोयला अथवा बालू इत्यादि पर लागू करने से 'काला' एक समन्वित विशेषण होता है वह दूध पर लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि दूध 'सफेद' होता है। अस्तु कोई भी मानव निर्णय केवल सत् के विशेष पहलू के विषय में ही सत्य होता है। कोई भी निर्णय पूर्णतया सत्य नहीं हो सकता जैसा कि कोई भी निर्णय पूर्णतया असत्य नहीं है। ब्रैडले का अनुसार "सीमित सत्य सापेक्ष होना चाहिए।" "कोई भी भूल ऐसी नहीं होगी जो पूर्णतया असत्य हो।"[1] "सत्य होने के लिए हमारे समस्त निर्णयों को सापेक्ष होना चाहिए।"[2] किन्तु इससे हमारे व्यावहारिक जीवन में कठिनाई उत्पन्न नहीं होनी चाहिये। क्योंकि जैसाकि ब्रैडले ने संकेत किया है, निश्चित रूप से हमारे विचार कुछ प्रयोजनों के लिए, पूर्णतया असत्य अथवा पूरी तरह सही मान लिया जाना चाहिये, किन्तु सत्य और भूल निरपेक्ष से नापने पर सदैव अंशों के विषय होंगे।[3] अस्तु, इस दृष्टिकोण से कोई भी असमीचीनता नहीं है। जबकि दैनिक जीवन के दृष्टिकोण में एक विशेष निर्णय पूर्णतया सत्य है, वह निरपेक्ष के दृष्टिकोण से सापेक्ष सत्य और भूल भी हो सकता है। इस प्रकार ब्रैडले सत् के अंशों के समान सत्य के भी अंश (Degree of truth) मानता है। ब्रैडले के अनुसार आभास सत् को भिन्न अंशों में विभक्त करता है। अस्तु, विभिन्न आभासों के विषय में दिये गये निर्णय अनुपातिक रूप से अधिक या कम सत्य होंगे।

ब्रैडले का यह अभ्युपगम है कि तत्व मीमांसा का चरम उद्देश्य है कि विश्व सम्बन्धी ऐसी व्यापक दृष्टि रहनी चाहिए, जो हमारी तर्क बुद्धि (Intellect) को

---

1. There will be no error which is totally false." Appearance and Reality—Bradley P. 320-21
2. "All our judgement, to be true, must become conditional" Ibid, p. 479
3. Our thoughts certainly, for some purpose may be taken as wholly false or again quite accurate, but truth and error measured by the Absolute must each be subject always to degree—Ibid, p. 321

संतोषप्रद प्रतीत हो और जो विश्व दृष्टि हमारी बुद्धि को ग्राह्य न हो वह न तो सत्य हो सकती है और न परमसत् ही।"[1]

फलवाद (उपयोगितावाद) (Pragmatism), के अनुसार सत्य

फलवाद के दार्शनिकों में विलियम जेम्स, डीवी और शिलर के नाम प्रमुख हैं। फलवाद के सत्य का सिद्धान्त समीक्षात्मक यथार्थवाद, नव्य यथार्थवाद आदि सभी यथार्थवादी सिद्धान्तों से भिन्न है। फलवादी दार्शनिक न तो यथार्थवाद के समान दृश्य जगत् को सत्य मानते हैं तथा न ही सत्य को मन से स्वतन्त्र मानते हैं, और न ही ब्रैडले के समान संसार को आभास मात्र एवं सत्य को व्याघात रहित कहकर पुकारते हैं। वे सत्य को ज्ञान के द्वारा ग्रहित नहीं मानते अपितु यह ज्ञान का विशेषण है जो कि हमारे जीवन में कार्य करता है। यह मानव उपनय और मूल्यांकन से स्वतन्त्र तथ्य नहीं है। यह मानव ज्ञान की उपयोगिता के मूल्यांकन की उपज है। विलियम जेम्स पूछते हैं, "यदि किसी विचार अथवा विश्वास को सत्य मान लिया जाये तो उसके सत्य होने से किसी के जीवन में क्या मूर्त अन्तर पड़ता है।"[2] विलियम जेम्स के लिए सत्य अनुभव के काम चलाऊ मूल्यों का सामूहिक नाम है। अर्थक्रियावादी अथवा फलवादी जो अनुभव की अस्थिरता से आरम्भ करता है और यह पाता है कि वास्तविकता इसी अस्थिरता में ही है अब अर्थ-क्रियावादी निरपेक्ष के किसी की रूप के साथ मित्रता का मान नहीं रखता।

फलवादी अथवा अर्थक्रियावादी प्रवृत्ति सामर्थ्य (Workability) को ही सत्य की कसौटी मानते हैं। यदि वह फल दे सकता है तो वह सत्य है। यदि वह फल देने में समर्थ नहीं होता तो वह असत्य है। 'गिलास में जल है' यदि गिलास का पानी प्यास को शांत कर सकता है तो यह मत ठीक सत्य है। यदि यह प्यास को शांत नहीं कर पाता तो यह असत्य है। सफल क्रिया, फलदायक परिणाम, कार्य क्षमता, व्यावहारिक उपयोगिता सत्य की कसौटी है। कार्य क्षमता केवल सत्य की कसौटी ही नहीं वरन् सत्य है। कार्यक्षमता सत्य है। जेम्स का कथन है कि "सत्य एक प्रत्यय है। यह घटनाओं द्वारा सत्य बनता है। वास्तव में इसकी सत्यता एक घटना, एक क्रिया है। इसके सत्य प्रमाणित करने की क्रिया ही इसकी सत्यता है। इसकी मान्यता प्रामाणिकता की क्रिया है। सत्य अनुभव के दौरान बनता है। पेट्रिक

---

1. आभास और सत्—अनु० फतेह सिंह, परिशिष्ट, पृ० 406
2. "Grant an idea or belief to be true, what concrets difference will its being true make in one's actual life?" —Pragmatism—William James p. 200

लिखता है—"अब अर्थक्रियावादी एक और कसौटी का प्रस्ताव रखता है जो बहुत व्यावहारिक है। कोई भी सिद्धान्त, प्राक् कल्पना अथवा विचार सत्य है, यदि वह सन्तोषजनक परिणामों की ओर ले जाने वाला हो।"[1] जेम्स का मत है कि "बिना परीक्षण (Verification) के कोई निर्णय सत्य या सच्चा निर्णय नहीं कहा जा सकता।[2]

कार्यक्षमता अथवा उपयोगिता जो अर्थक्रियावादियों की कसौटी है, वह सत्य को सापेक्ष, आभ्यांतरिक तथा मानवीय बना देती है। अर्थक्रियावादी चरम सत्य को अस्वीकार कर देता है, जो मनुष्य की आवश्यकताओं तथा हितों से सम्बन्धित नहीं है। औचित्य, जैविक आवश्यकताएँ, चरम सत्य को सिद्ध नहीं कर सकते। अर्थक्रियावाद मानस तथा, बुद्धि के साधनात्मक स्वरूप पर जोर देता है। यह कृति की शक्ति तथा आदर्श मूल्यों (Ideal values) पर ध्यान नहीं देता।[3]

हृदयनारायण मिश्र का कथन है कि "अर्थक्रियावादी (Pragmatism) कहते हैं कि सत्य का निर्माण मनुष्य ही करता है। उनके लिए सत्य वही है जो मनुष्य के लिए लाभकारी हो। इसलिए वे किसी 'निरपेक्ष सत् में विश्वास नहीं करते। इस प्रकार अर्थक्रियावाद मनुष्यों की अनुभूतियों, संवेगों इत्यादि को अधिक महत्व देते हैं।'[4] सत्य के संबंध में ही वह एक अन्य स्थान पर लिखते हैं:—

"अर्थक्रियावाद की मान्यता है कि निरपेक्ष सत् कोई नहीं है। कोई शाश्वत सत् भी नहीं है। जेम्स ने कहा है कि 'सत् हमारे' मानवीय प्रत्ययों और हमारे शेष अनुभवों के बीच एक सम्बन्ध मात्र है।'[5] इससे स्पष्ट है कि सत् प्रायः परिवर्तित होते रहते हैं। सत् के परिवर्तन का सुन्दर उदाहरण नक्षत्रों की गति का है।"[6] जेम्स का कथन है, 'सत्य उसी प्रकार बनता है' जैसे स्वास्थ्य, धन और शक्ति अनुभव के साथ-साथ बनते जाते हैं।"[7]

---

1. दर्शनशास्त्र का परिचय—पेट्रिक, पृ० 382
2. "A judgement is made true by being verified, a part from verification, it can not be true or erroreous." James.
3. पश्चिमी दर्शन—जे० एन० सिन्हा, पृ० 58
4. समकालीन दार्शनिक चिन्तन—हृदयनारायण मिश्र, पृ० 7
5. Truth is merely a relation between our human ideas and the use of our experience."
6. समकालीन दार्शनिक चिन्तन—हृदयनारायण मिश्र, पृ० 193
7. "Truth is made just as health, wealth and strengthe are made in the course of experience—Pragmatism. p 218

डीवी के अनुसार सत्य की अवधारणा

डीवी भी विलियम जेम्स की तरह अर्थक्रियावाद अथवा फलवाद को महत्व देता है। उसकी मान्यता थी कि ईश्वर को स्वीकार करने में यदि कुछ लाभ है तो वह सत्य है अन्यथा वह असत्य प्रत्यय है। अस्तु डीवी ईश्वर, आत्मा की अमरता आदि प्रत्ययों को अर्थहीन मानते हैं। क्योंकि इनका व्यावहारिक जीवन में कोई उपयोग नहीं है 'जेम्स और डीवी निरीक्षण-परीक्षण पर विशेष बल देते हैं। डीवी का कथन है कि सत्य का अर्थ केवल एक ही है अर्थात् 'परीक्षित' इसके अतिरिक्त सत्य का कोई अन्य अर्थ नहीं है।

एफ० सी० एस० शिलर के अनुसार सत्य

अन्य फलवादियों के समान शिलर ने भी फल अथवा उपयोगिता (Utilites) को ही सत्य की कसौटी माना है किन्तु वह सत्य की उपयोगिता पर शंका करते हैं। उनके अपने शब्दों में, "यह माना जाना चाहिये और इस पर जोर दिया जाना चाहिये कि यह कहना कि सभी सत्य काम करना चाहिये और उपयोगी होने चाहिये, उसकी कठोर भाषा नहीं है। इसमें केवल एक अत्यंत महत्वपूर्ण और प्राणमय आवश्यकता पर जोर दिया गया है जिसको दुर्भाग्यवश भुला दिया जाता है। परन्तु वह परिभाषा का आकार नहीं है। वह सत्य को जो कुछ कार्य करता है उसमें बदल नहीं देती और उसका उपयोगिता से तादात्म्य ही करती है। यद्यपि प्राचीन काल से ही यह भ्रामक रूपान्तर गलती से फलवाद पर लादा जा रहा है। तर्कशास्त्र में यह भूल उसके आलोचकों के कारण है, जो कि प्रतिनिधि-फलवादियों से इसके अनुरूप कभी भी कोई पद-उद्धृत नहीं कर सके हैं। यद्यपि यह प्रचलित और विरोधी अभिव्यक्तियों में सामान्य रूप से पाया जाता है।"[1] शिलर के अनुसार यह कहना कि सत्य उपयोगिता से बनता है, इसका प्रयोजन केवल इतना ही है कि, उपयोगिता के कारण ही हम किसी विचार को सत्य विचार कहते हैं। शिलर के ही शब्दों में, "यह उपयोगिता ही, शाब्दिक रूप से, सत्य का सार है। कोई भी सत्य अस्तित्व में नहीं आ सकता, किसी भी सत्य को स्थापित नहीं किया जा सकता, जब तक कि वह किसी प्रयोजन के लिए उपयोगी न पाया गया हो। यह उपयोग उसके प्रचारित होने के पहले होता है और बाद में चाहे उसका जो भी हाल हो उससे अप्रभावित होता है।"[2]

विलियम जेम्स ने शिलर के सिद्धान्त को 'सत्य का जननिक सिद्धान्त (Genetic theory of truth) कहा है। यद्यपि विलियम जेम्स और शिलर फलवाद के

---

1. Losic for use—Schiller p. 157
2. Ibid p. 159

सिद्धान्त को मानते हैं किन्तु दोनों में, भिन्नता भी है। शिलर को जेम्स की यह मान्यता स्वीकार नहीं है कि कोई विचार उपयोगी है। क्योंकि वह सत्य है, और सत्य है क्योंकि वह उपयोगी है। इसके विरुद्ध शिलर ने यह दिखलाया कि कुछ उपयोगी वस्तुएँ सत्य नहीं होतीं, जैसे कि गल्प कथायें। किन्तु दूसरी ओर जो कुछ सत्य है वह उपयोगी अवश्य होता है। शिलर ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि यदि सत्य, सत्य का दावा है तो अर्थक्रियावादी सत्य और झूठ में किस प्रकार अन्तर करेंगे क्योंकि झूठे निर्णय भी सत्य होने का दावा करते हैं। शिलर ने इस प्रकार के सत्यों का दावा करने वाले निर्णयों को अनेक वर्गों में बाँटा है। जैसे, मान्यताएँ (Postulates), नियम (Axious), व्यंग्य (Jokes) और गप्प (Xies) इत्यादि। इनमें से किसी में भी सदैव सत्य नहीं होता। झूठ इसलिए झूठ होता है क्योंकि उसका सत्य का दावा परीक्षण करने पर गलत सिद्ध होता है।"[1]

शिलर सत्य के अन्य सिद्धान्तों का खण्डन निम्न रूप से करते हैं :—

1. वे उन दार्शनिकों से सहमत नहीं हैं जो यह मानते हैं कि सत्य निर्णयों और तर्क वाक्यों का गुण है।

2. शिलर उन दार्शनिकों से भी अपना विरोध रखते हैं जो यह मानते हैं कि सत्य यथार्थ अथवा वास्तविकता का साक्षात्कार है।

3. शिलर उन दार्शनिकों को भी मान्यता नहीं देते जो सत्य विचार के द्वारा अनिवार्य सिद्ध होता है।

4. सहज ज्ञान के रूप में सत्य का सिद्धान्त भी शिलर को मान्य नहीं है।

5. सत्य मानव मन से भी स्वतंत्र नहीं है। इस मान्यता का शिलर खण्डन करते हैं।

6. अनुकूलतावादी सिद्धान्त और सामञ्जस्यवादी सिद्धान्त भी उन्हें मान्य नहीं हैं।[2]

आलोचना

अर्थक्रियावाद अथवा फलवाद की आलोचना में निम्नलिखित युक्तियाँ दी जाती हैं :—

(अ) प्रत्येक दशा में सत्य का निर्णय परीक्षण (Verification) द्वारा नहीं हो सकता। प्रकृति पर मनुष्य का पूर्ण अधिकार नहीं है। इसी प्रकार भूत काल तथा भविष्यत्-काल की कई घटनाएँ मानव प्रयोगशाला के अन्दर नहीं लायी जा सकतीं।

(ब) उपयोगिता की अनुभूति में धोखा भी हो सकता है। अंक गणित में

---

1. समकालीन दर्शन—रामनाथ शर्मा, पृ० 296
2. वही, पृ० 298-299

कभी-कभी प्रक्रिया (Process) गलत होने पर भी क्रिया फल ठीक निकलता है। कई धोखेबाजों व सट्टेबाजों की भविष्य वाणी सही निकलती हैं।

(स) इस मत के समर्थक इस बात पर बल देते हैं कि सत्य की परीक्षा संतोषप्रद व्यवहार (Satisfactory working) तथा सफल अनुभव में है किन्तु दार्शनिक दृष्टि से, ये समर्थक अनुभव शब्द की तथा संतोषप्रद व्यवहार की स्पष्ट व्याख्या नहीं कर पाये हैं।

ज्ञान की समस्या

"दयाकृष्ण का कथन है कि "दर्शन शास्त्र की समस्याएँ" बहुत व्यापक होती हैं और कुछ अंशों में तो वे समस्त ज्ञान का आधार-शिलाओं से ही सम्बन्धित होती हैं।"[1] अतः प्रश्न स्वाभाविक है कि यह आधारशिला 'ज्ञान' क्या है? ज्ञान को समझने के लिए ज्ञान का अर्थ समझना आवश्यक है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि हम सत्य ज्ञान को जानें। वैसे तो ज्ञान का सीधा अर्थ है 'जानना' और इस जानने की क्रिया में तीन तत्व मुख्य है। एक जानने वाला पुरुष, दूसरा तथ्य अथवा वस्तु जिसको जाना जाता है और तीसरा है प्रमाण, जिसके द्वारा यह प्रमाणित हो जाये कि 'ज्ञान' सही हुआ है। वास्तव में "हम किसी तथ्य, वस्तु या कथन को जानने के अर्थ में 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग करते हैं।"[2] ज्ञान की परिभाषा करते हुए रामनाथ शर्मा का कथन है कि "ज्ञान वस्तुओं की अभिव्यक्ति को कहते हैं। वह दीपक के समान अपने विषयों को प्रकाशित करता है।"[3] उमेश मिश्र लिखते हैं— "ज्ञान स्वयं प्रकाश तथा विभु है"[4] याकूब मसीह का कथन है—"ज्ञान वह है जिसमें वस्तुओं को विषय सूचना मिले और जिसे अन्त में सत्य या मिथ्या सिद्ध किया जा सके।"[5] इन परिभाषाओं से फिर भी यह स्पष्ट नहीं होता कि 'ज्ञान' क्या है?

हम सब जानते हैं कि जब हम किसी वस्तु को देखते अथवा किसी कथन को सुनते हैं तो कहते हैं कि अमुक वस्तु का अथवा कथन का ज्ञान हुआ। परन्तु ज्ञान की समस्या उत्पन्न होती है क्योंकि "अनुभव" और 'ज्ञान' प्रथम दृष्टि में एक ही अवस्था के दो भिन्न नाम प्रतीत होते हैं परन्तु थोड़ा सोचने पर समस्याएँ उत्पन्न होने लगती हैं और समस्याओं को सुलझाने में दर्शन की उत्पति होती है।"[6]

---

1. अनुभववाद—स० यशदेव शल्य, पृ० 7
2. समकालीन विश्लेषणात्मक धर्म दर्शन—डॉ० वेद प्रकाश वर्मा, पृ० 156-57
3. भारतीय दर्शन के मूल तत्व—रामनाथ शर्मा, पृ० 216
4. भारतीय दर्शन—डॉ० उमेश मिश्र, पृ० 415
5. हेगेल तथा ब्रैडले का प्रत्ययवाद—याकूब मसीह, पृ० 62
6. अनुभववाद—स० यशदेव शल्य, पृ० 8

दर्शन शास्त्र के इतिहास में ज्ञान प्राप्त करने के संबंध में तीन वाद दृष्टिगोचर होते हैं—(1) बुद्धिवाद, (2) अनुभववाद और अन्तः प्रज्ञावाद। इन तीन के आधार पर दार्शनिकों में मतभेद उत्पन्न हुए। यह मतभेद ग्रीक दर्शन से लेकर वर्तमान काल तक इतिहास में दिखाई पड़ते हैं। ज्ञान की समस्या दार्शनिकों की समस्या है जो महसूस करने की चीज है। यह समस्या एक खास तरह की है।

ज्ञान के प्रकार

1. धार्मिक ज्ञान, सामाजिक ज्ञान, भौगोलिक ज्ञान, वैज्ञानिक ज्ञान, नैतिक ज्ञान।

वास्तविक रूप से ज्ञान के दो प्रकार हैं :—

(1) आकारिक ज्ञान और (2) तथ्यपरक ज्ञान।

आकारिक ज्ञान के उदाहरण—"नेत्र चिकित्सक नेत्र रोगों का उपचार करता है," "दो और दो चार होते हैं।"

"कुमारी अविवाहिता नारी होती है" आदि विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ आकारिक ज्ञान विषयक कथनों के उदाहरण हैं। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि आकारिक ज्ञान तथ्यपरक न होकर केवल विश्लेषणात्मक अथवा पुनरुक्त्यात्मक होता है।

आकारिक विषयक कथन में विधेय पद, उद्देश्य पद की पुनरावृत्ति मात्र करता है। इस प्रकार विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों द्वारा हमें शब्दार्थ अथवा परिभाषाओं का जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे ही 'आकारिक ज्ञान' की संज्ञा दी जाती है।

तथ्यपरक ज्ञान हमें प्रकृति और जगत् की विभिन्न वस्तुओं से संबंधित तथ्यों की सूचना प्रदान करता है, जिनका अनुभव के आधार पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से निरीक्षण संभव है, भौतिक विज्ञानों, सामाजिक विज्ञानों तथा अपने दैनिक जीवन में प्रयोग और निरीक्षण के फलस्वरूप हम जो ज्ञान प्राप्त करते हैं उसे ही 'तथ्यपरक ज्ञान' कहा जाता है।

तथ्यपरक ज्ञान को सत्य अथवा प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए तथ्यों पर आधारित प्रमाण प्रस्तुत करना आवश्यक है—तथ्यपरक ज्ञान वस्तुनिष्ठ होता है।

ज्ञान प्राप्त करने के लिए दो बातों पर बल दिया जाता है। अनुभव और बौद्धिकता पर, किन्तु प्रश्न यह है कि मानव को ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता क्यों होती है? ज्ञान से क्या जाना जाता है। भारतीय दर्शन में मोक्ष प्राप्त करने के मार्गों में से एक है ज्ञान मार्ग। क्या ज्ञान मार्ग से सत्य को जाना जा सकता है? इसी तथ्य को डॉ० दया कृष्ण ने इस प्रकार कहा है—"इसी प्रकार 'ज्ञान' के विषय में प्रश्न उठता है कि क्या केवल सत्य को ही 'ज्ञान' की संज्ञा से अभिहित किया जा

सकता है ? क्या ज्ञान सदैव निरपेक्ष होता है ? क्या जो देश-काल से सीमित है वह ज्ञान नहीं है। क्या 'ज्ञान' उसी को कहते हैं जिसका असत्य होना कल्पना में भी असंभव हो ?"[1]

ज्ञान की समस्या वास्तव में जटिल समस्या है, एक महत्वपूर्ण समस्या है। इसका इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि मनुष्य। पाश्चात्य दार्शनिक जगत् में प्रथमतः ज्ञान की उत्पत्ति आश्चर्य (Woundes) से मानी जाती है, जिसमें संवेदना कार्य करती है। अर्थात् संवेदना के पश्चात् ही प्रत्यक्ष होता है। आगे चलकर प्रत्यक्ष पर संशय और संदेह की विधि द्वारा नये आयामों के जरिये ज्ञान के नये-नये क्षितिज उद्घाटित होते रहते हैं। याकूब मसीह लिखते हैं कि "ज्ञान संवेदना से प्रारम्भ होकर बोध शक्ति की ओर अग्रसर होकर तर्क शक्ति में समाप्त हो जाता है।"[2] ज्ञान के संमुख समस्या यह नहीं है कि "प्रतीति या अनुभूति क्या है, परन्तु यह कि जो प्रतीत या अनुभूत होता है वह कहाँ तक सत्य है, उसकी सत्यता कैसे निर्धारित की जाए और वह जो प्रतीति या अनुभूति नहीं होता उससे कहाँ तक सम्बद्ध है।"[3]

जहाँ तक अनुभव से प्राप्त ज्ञान का प्रश्न है। यह कहा जा सकता है कि बिना अनुभव के ज्ञान हो ही नहीं सकता। बर्ट्रेंड रसेल ने जैसा बताया है कि ज्ञान दो प्रकार से प्राप्त होता है—(1) वर्णन के द्वारा और परिचय के द्वारा। इसका विश्लेषण हम आगे के अध्याय में करेंगे। हम यहाँ केवल यह कहना चाहते हैं कि ज्ञान में मानव की क्रिया भी सम्मिलित है चाहें वह शारीरिक क्रिया हो, चाहे मानसिक। इसी कारण ज्ञान की एक समस्या यह देखना है कि क्रियाएँ ज्ञान को प्रभावित करती हैं अथवा नहीं। "ज्ञान" और "क्रिया" का संबंध अपने आप में एक गहन चिंतन का विषय है। परन्तु विज्ञान के क्षेत्र में तो इनको करीब-करीब अन्योन्याश्रित ही समझना चाहिए।"[4]

कुछ दार्शनिक ज्ञान का उद्भव और विकास बुद्धि द्वारा मानते हैं, जबकि कुछ अनुभव से। दार्शनिकों के ये दो सम्प्रदाय प्रत्ययवाद और अनुभववाद का प्रतिनिधित्व करते हैं और ज्ञान की समस्या को अपने-अपने ढंग से देखते हैं। पेट्रिक 'दर्शन शास्त्र का परिचय' पुस्तक में इस संदर्भ में लिखता है कि "इसकी प्रथम समस्या निश्चय ही तर्क बुद्धिवाद तथा इन्द्रियानुभववाद के बीच का बड़ा विषय उठाती है और दूसरी

1. अनुभववाद—यशदेव शल्य, पृ० 8
2. हेगेल तथा ब्रैडले का प्रत्ययवाद—याकूब मसीह, पृ० 78
3. अनुभववाद—स० यशदेव शल्य, पृ० 19
4. ज्ञान मीमांसा—दयाकृष्ण, पृ० 36

समस्या हमें वास्तववादियों और प्रत्ययवादियों की बीच में प्रसिद्ध द्वंद्व से परिचय करवाती है।"[1]

ग्रीक दर्शन में प्रोटेगोरस यह बताता है कि ज्ञान में कुछ भी वास्तविकता नहीं है। क्योंकि जो भी ज्ञान प्राप्त होता है वह संवेदनाओं (Sensation) द्वारा प्राप्त होता है और संवेदनाएँ हर समय परिवर्तनशील हैं, अतः ज्ञान भी परिवर्तनशील है। प्रोटेगोरस के बाद अरस्तू के अनुसार ज्ञान विषय का वास्तविक विचार देता है। वह ज्ञान की सत्यता की बात कहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञान ही सत् है। हम यह भी कह सकते हैं कि ज्ञान का प्रश्न सत्य के प्रश्न से पूर्णतया सम्बन्धित है और वे दोनों, ज्ञान और सत्य, पृथक् नहीं हो सकते। प्लेटो का दर्शन प्रत्ययों (Ideas) पर बल देता है। वह कहता है कि जो कुछ है वह प्रत्यय द्वारा ही है। वह विश्लेषण करके यह बताता है कि बुद्धिजन्य ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। प्लेटो मत (Opinion) और सिद्धान्त ज्ञान में अन्तर करता है और एक को निम्न श्रेणी का और दूसरे को उच्च श्रेणी का ज्ञान कहता है। निम्न श्रेणी का मत नितांत अन्ध-विश्वास है और उच्च श्रेणी का ज्ञान विश्वास है।[2] इस तरह प्लेटो ने बुद्धिजन्य ज्ञान को ही प्रधान माना है।

ग्रीक दर्शन में 'सोफिस्टो' द्वारा उठाये दार्शनिक प्रश्नों के माध्यम से "दार्शनिक चेतना में धीरे-धीरे निश्चयात्मक ज्ञान की सम्भावना विषयक शंका, अंकुरित हो रही थी।"[3] इसका अर्थ यह हुआ कि संशयवाद की पृष्ठभूमि झलक रही थी। सोफिस्टो के पूर्ववर्ती विचारकों ने तो केवल इन्द्रिय ज्ञान को संदिग्ध ठहराया था, सोफिस्टो ने ज्ञान मात्र को संदिग्ध घोषित कर दिया और ग्रीक ज्ञान-मीमांसा के संमुख एक समस्या को जन्म दे दिया। सोफिस्ट शिक्षकों के संशयवाद की पहली चोट नीति और धर्म पर पड़ी और इस संशय को प्लेटो ने उसकी पूरी व्यापकता में समझा और उसका भरसक प्रत्युत्तर देने का प्रयास किया।

ज्ञान के स्रोत की समस्या से भी मानव चिंतन आगे बढ़ता है। उसके सामने ज्ञान की दूसरी समस्या आती है कि जो ज्ञान प्राप्त होता है, क्या वह प्रामाणिक ज्ञान है अथवा नहीं। समकालीन दार्शनिकों ने इस समस्या पर अधिक चिंतन किया, विशेष कर ए० जे० एयर ने। वह ज्ञान विषयक वक्तव्य की चर्चा करता है और उन्हें स्वीकार करने के लिए यह बताता है कि ज्ञान के लिए कुछ शर्तों का होना आवश्यक है जिन्हें 'ज्ञान की अनिवार्य कसौटियाँ' कहा जाता है।

---

1. दर्शनशास्त्र का परिचय—पेट्रिक, पृ० 339
2. पाश्चात्य दर्शन का इतिहास—गुलाबराय, पृ० 45
3. पूर्वी और पश्चिमी दर्शन—डॉ० देवराज, पृ० 7

1. 'ज्ञान के लिए यह अनिवार्य है कि व्यक्ति जिसे जानने का दावा करता है उसमें वह अवश्य विश्वास करे।' 'परन्तु ज्ञान के लिए ज्ञात विषय में विश्वास करना पर्याप्त नहीं है। इसका कारण यह है कि कई बार कुछ व्यक्ति ऐसी वस्तुओं में विश्वास करते हैं जिन्हें वे नहीं जानते अथवा वे ऐसे कथनों में विश्वास करते हैं जो सत्य नहीं होते। ऐसी स्थिति में ज्ञान के लिए विश्वास करने के अतिरिक्त कुछ अन्य शर्तों का पूर्ण होना भी अनिवार्य है।"[1]

2. ज्ञान के लिए सत्य होना आवश्यक है। यदि कोई कथन सत्य नहीं है तो ऐसे कथन निरर्थक हो जाते हैं।

3. तीसरी कसौटी यह है कि ज्ञान की पुष्टि के लिए पर्याप्त प्रमाणों का होना आवश्यक है। यदि ज्ञान पर्याप्त प्रमाणों पर आधारित नहीं है तो उसे वास्तव में 'ज्ञान' की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

पेट्रिक ने 'दर्शन शास्त्र का परिचय' में ज्ञान की कसौटियों के बारे में बताते हुए कहा है, "आप्तवाद (Authority) यह प्रतिपादित करता है कि ज्ञान आप्तवचन द्वारा प्रमाणित अथवा आश्वस्त होता है। मनुष्य स्वाभाविक रूप से सुझाव को ग्रहण कर लेता है क्योंकि सम्मति का स्थानीय संबंध एक ऐसी कसौटी है। यदि व्यक्तियों का एक बड़ा समूह समुदाय किसी सिद्धान्त को मानता है तो वह सही है। दूसरी कसौटी है, कालपरक अवधि। वे विचार जो दीर्घ काल से मान्य चले आए हैं और अच्छी सत्ता पर आधारित होते हैं, ज्ञान होते हैं। तीसरी कसौटी प्रतिष्ठा है। किसी भी सफल, अनुभवी तथा विद्वान् चिकित्सक के आधार पर किए गये रोग निदान को स्वीकार कर लेते हैं। हमारा 'वैज्ञानिक ज्ञान' लेखक अथवा शिक्षक अथवा प्रिय संत की प्रतिष्ठा पर आधारित होता है।"[2]

ज्ञान की समस्या के अन्तर्गत एक प्रश्न यह भी प्रमुख है कि क्या ज्ञाता और ज्ञेय के बीच सम्बन्ध है? यदि संबंध है तो यह किस प्रकार की समस्या है। पेट्रिक लिखता है कि "अपने सामान्य रूप से यह वास्तविकता के जगत् के साथ हमारे विचारों के संबंध की समस्या है।"[3] इसी संदर्भ में हम यशदेव शल्य का कथन पाते हैं कि "कुछ दार्शनिकों ने ज्ञान को ऐसा सम्बन्ध वाचक विशेषण माना है जो दूसरे विशेषणों से नितांन्त भिन्न प्रकार का है, जैसे कुछ दार्शनिकों के अनुसार, यह विषयी और विषय का विलक्षण रूप से एकत्व (Closelevity) है।[4] ज्ञान विषयात्मक

---

1. समकालीन विश्लेषणात्मक धर्म दर्शन—डॉ० वेद प्रकाश शर्मा, पृ० 157
2. दर्शन शास्त्र का परिचय—पेट्रिक, पृ० 331
3. दर्शन शास्त्र का परिचय—पेट्रिक, पृ० 339
4. Alternative stand point in Philosophy—Klidas Bhattacharya

होता है। ज्ञान के समान ही कुछ अन्य मानसिक व्यापार जैसे विश्वास, स्मृति, दर्शन, श्रवणादि भी विषयात्मक ही होते हैं। 'ज्ञान' पद के प्रयोग के लिए यह आवश्यक है कि उदिष्ट विषय के अनुरूप वस्तुस्थिति भी हो।"[1]

ज्ञान की एक अन्य समस्या स्मृति से सम्बन्धित है। समस्या यह है कि 'क्या स्मरण कभी ज्ञान होता है।' इसके प्रत्युतर में ए० डी० वूजले ने लिखा है, "अति संशयवादी का झुकाव इसका निषेधात्मक उत्तर देने की ओर होता है। उसके निषेधात्मक उत्तर का आधार उदाहरणतः यह होगा कि भविष्य वैसा ही होगा जैसी हम उसकी कल्पना करते हैं, ऐसा मानने का हमारे पास जितना हेतु है उससे अधिक प्रवल हेतु हमारे पास यह मानने का नहीं है कि अतीत वैसा ही था जैसी हमें उसकी स्मृति होती है। मेरी समझ से अति संशयवादी स्वयं को कुछ घपले में डाल देता है और ऐसा कुछ मानता है कि किसी को किसी तरह का ज्ञान तव तक नहीं हो सकता जव तक वह अनिवार्यतः सत्य न हो, अर्थात् जव तक वह स्वतोव्याघात के विना अन्यथा न हो। अतः संशयवादी 'ज्ञान' को जिस अर्थ में लेता है उसे ध्यान में रखते हुए, 'सूर्य कल पूर्व में उदय होगा', इसके वास्तव में सत्य होने के वावजूद इसे तार्किक दृष्टि से अनिवार्य सत्य नहीं कहा जा सकता, और इसलिए यह ज्ञान नहीं हो सकता।

यदि संशयवादी जो कहना चाहता है वह यही है कि जो तर्कतः अनिवार्य है उसको छोड़कर अन्य कुछ भी ज्ञान नहीं है और यदि जो वह कहना चाहता है वह सत्य है, तो निष्कर्ष अवश्य ही यह निकलता है कि स्मरण ज्ञान का एक प्रकार नहीं है।"[2]

वूजले ने एक समस्या की ओर ध्यान खींचा है। उनका प्रश्न है कि ज्ञान मीमांसा और मनोविज्ञान के मध्य क्या सम्बन्ध है? स्मृति प्रतिमा क्या होती है? स्मरण करते समय की प्रतिमा तथा स्मृति अनुभव के मध्य क्या सम्बन्ध है? क्या स्मरण करना, जानने का एक तरीका है? दार्शनिक इस वात पर संदेह कर सकता है कि स्मृति अतीत के वारे में जानकारी देती है, और तव वह इस संदेह को एक या अन्य तरीके से मिटाने का प्रयत्न करेगा।[3]

ज्ञान के विषय में एक अन्य समस्या यह है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में, हमें चेतना किसकी होती है? इसी के साथ उन्होंने एक और समस्या की ओर संकेत किया है:

---

1. ज्ञान और सत्—यशदेव शल्य, पृ० 2
2. ज्ञान मीमांसा परिचय—ए० डी० वूजले, पृ० 66-67
3. वही, पृ० 9

और वह यह कि 'ज्ञान या विश्वास में हमें किस चीज की चेतना होती है ?'[1] ऐसे प्रश्नों को सुलझाना ही दार्शनिकों का कर्त्तव्य है। इसी कारण गोविन्द चन्द्र पाण्डे ने लिखा है कि "ज्ञान का अनुसन्धान मनुष्य का स्वधर्म और परम कर्त्तव्य है।"[2]

यशदेव शल्य ने अनुभववाद को लेकर समस्या की ओर ध्यान आकर्षित किया है। उनका प्रश्न है, "इन्द्रिय जनित अनुभव को ही अनुभव मानना कहाँ तक उचित है और उसके आधार पर किस प्रकार ज्ञान प्राप्त होता है।" यह प्रश्न, वे लिखते हैं, "अनुभववाद ने नहीं उठाये हैं।"[3]

एक अन्य समस्या 'ज्ञान के विषय' को लेकर है। ज्ञान की प्रकृति को लेकर यह कहा जाता है कि इसके दो पहलू हैं—स्वरूप और कन्टेन्ट (Form and Content) शुद्ध बुद्धिवादी केवल स्वरूप की ओर ध्यान देते हैं जबकि शुद्ध अनुभव-वादी केवल अन्तर्वस्तु, (Content) की ओर। स्वरूप बिना कन्टेन्ट के खाली होता है और कन्टेन्ट बिना स्वरूप के अस्त-व्यस्त (*Chaotic*) 'ज्ञान न तो केवल खाली होता है और न ही अस्तव्यस्त (Chaotic) किन्तु Content सम्बन्धों में संगठित किये जाते हैं जिसका ज्ञाता के लिए अर्थ और मूल्य होता है।[4] वूजले ने इसे दो उदाहरण द्वारा समझाया है। (1) "मैं कह सकता हूँ कि मैं 'विलियम को जानता हूँ' इस अर्थ में कि मैं इनसे परिचित हूँ' परिचय के अर्थ में, जानने में कर्म साधारणतः व्यक्ति और वस्तुएँ बताए जाएँगे। पहली चीज यह है कि परिचय ठीक-ठीक क्या होता है और किन स्थितियों में हम किसी व्यक्ति या वस्तु से परिचित होने का दावा कर सकते हैं।"

(2) "मैं जानता हूँ कि 'विलियम बाहर गया है। इसका मतलब यह नहीं है कि मैं विलियम से परिचित हूँ, बल्कि यह कि उसके बारे में मैं कुछ जानता हूँ।

1. ज्ञान मीमांसा परिचय—ए० डी० वूजले, पृ० 10
2. मूल्य मीमांसा—गोविन्द चन्द्र पाण्डे, पृ० 233।
3. अनुभववाद—स० यशदेव शल्य, पृ० 16।
4. "By its nature knowledge possess two aspects form and Content. Pure nationatism devoted its attention wholly to the former, as pure empiricism devoted itself wholly to the latter. Form without content is empty and content without form is chaotic. Knowledge is neither empty nor chaotic but content organized is relations which have meaning and value for the knaower" Philosophy—Burnet. p. 287

इस अर्थ में जानने की विशेषता यह है कि जानने वाला एक तथ्य को जानता है। यहाँ कर्म एक व्यक्ति या वस्तु नहीं है, वल्कि उसके बारे में एक तथ्य है। लेकिन जानने के ये दो तरीके परस्पर संवंधित होते हुए भी मूलतः भिन्न हैं। परिचय के अर्थ में जानने और तथ्य को जानने में इतना अधिक अन्तर है कि कुछ दार्शनिकों ने वाध्य होकर परिचय को ज्ञान का एक रूप मानने से ही इन्कार कर दिया है।"[1]

परिचय द्वारा जानना (Knowledge by Acquaintance) वर्ट्रेन्ड रसेल का सिद्धान्त है जिसका वर्णन आगे किया गया है।

गोविंद चन्द्र पाण्डे का मत है कि "ज्ञान विषय का तटस्थ प्रदर्शन करता है और उसके मूल्य से स्वयं उपस्क नहीं होता। जल के 'वाच्य ज्ञान' से प्यास नहीं वुझती, न अच्छाई-बुराई के ज्ञान में अच्छाई-बुराई होती है। न ज्ञान का विषय ज्ञान-गत होता है, न ज्ञान विषयात्मक। न ज्ञान विषय की घटनात्मक प्राप्ति देता है, न ज्ञान से विषय स्थिति में कोई परिवर्तन होता है।"[2] इस प्रकार समस्या यह है कि ज्ञान और तथ्य में क्या संवंध है ? क्या तथ्य पूर्ण रूप से ज्ञान का विषय होता है ?

दार्शनिक जगत् में ज्ञान की समस्या ज्ञान के प्रकारों को लेकर भी है। दया-कृष्ण उनकी पुस्तक 'ज्ञान-मीमांसा' में स्वयं का ज्ञान, अन्य चेतनाओं का ज्ञान और जड़ वस्तुओं का ज्ञान' का विभाजन करते हैं। वे स्वयं लिखते हैं कि "इस प्रकार ज्ञान के ऐसे तीन प्रकार होंगे जिनमें भेद करना आवश्यक होगा।"[3] अन्य पहलू से देखने पर हमें ज्ञान के कई भेद दृष्टिगोचर होते हैं जैसे अनुभव से प्राप्त ज्ञान, वुद्धि से प्राप्त ज्ञान, वैज्ञानिक ज्ञान, नैतिक ज्ञान, क्रिया प्रधान ज्ञान, व्यावहारिक ज्ञान और सहज ज्ञान। प्रश्न यह है कि क्या अलग-अलग प्रकार के ज्ञानों में परस्पर संवंध है और यदि है तो कैसे ?

वुद्धिवाद और अनुभववाद के ज्ञान सम्वन्धी विवाद को काण्ट ने हल करने का प्रयत्न किया। वुद्धिवाद का कथन है कि कुछ विज्ञान ऐसे हैं जिनकी उत्पत्ति इन्द्रियों से नहीं होती। उसका विश्वास है कि सार्वभौमता, अनिवार्यता और प्रामाणिकता वुद्धि द्वारा ही सिद्ध हो सकती है। अनुभववाद का कथन है कि ज्ञान की सत्यता या यर्थाथता अनुभव से ही निष्पन्न हो सकती है। वुद्धिवाद-ज्ञान के उद्गम या उत्पत्ति के विषय में सही निर्णय करता है और अनुभववाद ज्ञान की प्रामाणिकता के विषय में यथार्थ निर्णय करता है। काण्ट अपने विचारों के माध्यम से वुद्धिवाद और अनुभव-वाद के बीच समन्वय स्थापित करने का यत्न करता है। किन्तु, डब्ल्यू एम० अर्वन

---

1. ज्ञान मीमांसा परिचय—वूनले पृ० 18-19
2. मूल्य-मीमांसा—गोविंद चन्द्र पाण्डे, पृ० 232
3. ज्ञान-मीमांसा—दयाकृष्ण, पृ० 65

का विचार है ज्ञान का विषय न तो आदर्श है और न ही आदर्श से विरोधाभास परन्तु वह दोनों से परे जाता है।[1]

वास्तव में ज्ञान की वास्तविकता सही निर्णयों में स्थित है। इस कारण यह कह सकते हैं कि ज्ञान का अर्थ सही निर्णय है। रसेल ने सही कहा है कि "ज्ञान मीमांसा की समस्या यह नहीं है कि मैं क्यों इसमें अथवा उसमें विश्वास करता हूँ पर इसमें है कि मुझे इसमें अथवा उसमें क्यों विश्वास करना चाहिये।"[2]

अर्बन ने, ज्ञान का सम्बन्ध मूल्य से क्या है, इस समस्या की ओर ध्यान को खींचा है। ज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध मूल्य से है। ज्ञान का स्वयं का संचरण मूल्य की ओर है जैसा कि उसने लिखा है :—

"Problem of knowledge is part of the problem of values at large and can not be separated from it. Knowledge itself is oriented towords value."[3]

ज्ञान की सीमा

ज्ञान के क्षेत्र में दार्शनिकों की समस्या जो बहुत ही अधिक विवादास्पद है वह है ज्ञान की सीमा। बीसवीं सदी में ज्ञान का विस्तार इतना अधिक हुआ है कि व्यक्तियों के मस्तिष्क के शक्ति का निर्धारण करना असम्भव लगता है। इस वैज्ञानिक युग में प्रत्येक बात अस्थिर नजर आती है। इस समस्या पर डॉ॰ रामजी सिंह की टिप्पणी इस प्रकार है :—

ज्ञान की सीमा की समस्या भयानक रूप से विवादास्पद है। विज्ञान के चमत्कार से प्रभावित व्यक्तियों की सीमाओं के निर्धारण की चेष्टा ही एक परम्परागत भ्रामक धर्म सापेक्षी दार्शनिक विचारधारा का परिणाम दिखता है और आज के वैज्ञानिक युग में जबकि किसी भी तत्व को न स्थिर ही माना जा सकता है, न तत्व ज्ञान को पूर्ण तथा निश्चित एवं सत्य, तत्व ज्ञान की सीमाओं का निश्चित निर्धारण ही असम्भव लगता है।"[4]

---

1. "The object of knowledge is neither ideal nor non-ideal but something that transcends both". —Beyand Realism and Idealism —W.M. Urban. p. 152.
2. "The problem for epistemology is not "Why do I believe this or that" ? but "Why should I believe this or that".—An inquiry into meaning and truth.—Betrand Russel, p. 16.
3. Beyond Realism and Idealism—Urban, p. 65 66.
4. दार्शनिक त्रैमासिक, अक्टूबर—1963

मनुष्य के ज्ञान की सीमा उसके ज्ञान स्रोतों की सीमाओं में निर्धारित होती है। ज्ञान की सीमा के सम्बन्ध में यशदेव शल्य लिखते हैं कि "ऐन्द्रिय ज्ञान क्षेत्र से भिन्न ऐसे दो और क्षेत्रों का दावा प्रमुख रूप से किया जाता है। एक प्रत्ययात्मक क्षेत्र और दूसरा प्रातिभ क्षेत्र। प्रातिभ क्षेत्र के अन्तर्गत हम ब्रह्म आदि के ज्ञान को और धार्मिक क्षेत्र के ज्ञानों को रख सकते हैं। प्लेटो प्रत्ययात्मक क्षेत्र को उचित क्षेत्र मानता था और शंकर प्रातिभ क्षेत्र को। शंकर ऐन्द्रिक ज्ञान को निम्न स्तर की स्थिति का ज्ञान मानते हैं जो उन्नत स्तर पर वाधित हो जाता है।"[1]

"मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित विचारक एक ओर यदि 'असीम' या 'अंतिम ज्ञान' की कल्पना का मिथ्यात्व वताता है तो दूसरी ओर अज्ञान के अंधकार को नष्ट करने के लिए सतत् यत्नशील रहने की आशावादी प्रेरणा प्रदान करता है। ज्ञान मानव की प्रवृति एवं समाज के सम्बन्धों के ऐतिहासिक-विकास का सतत् उन्मुख सिद्धान्त है।

अवधारणात्मक विश्लेपणवादी दृष्टिकोण से, ज्ञान की सीमा के प्रश्न का अर्थ है कुछ परिभाष्य अज्ञेय क्षेत्र को स्वीकार करना। अज्ञेय चिन्त्य एवं अचिंत्य दोनों हो सकता है। अतः ज्ञान की सीमा का प्रश्न व्यक्ति या समाज की, अथवा वास्तविक या संभाव्य सीमा का प्रश्न नहीं है और न ऐतिहासिक-विकास क्रम का है, यह अज्ञेयता का प्रश्न है।'[2]

ज्ञान की सीमा की समस्या पर जगदीश सहाय श्रीवास्तव ने लिखा है :—

"ज्ञान के उद्‌भव, स्वभाव-व प्रामाणिकता के अतिरिक्त ज्ञान की सीमा (Extent) के विषय में भी वुद्धिवादियों एवं अनुभववादियों में पर्याप्त मतभेद है। वुद्धिवादियों के अनुसार ज्ञान की कोई सीमा नहीं है। वे इस वात में रूढ़िवादी (Dogmatist) हैं। विटगेन्स्टीन (Wiltgenstein) ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है, "चिन्तन की सीमा को निर्धारित करने के लिए हमें उस सीमा के दोनों ओर का विचार करना होगा।" तात्पर्य यह है कि ज्ञान असीम है। डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइ-व्निज एवं वुल्फ के यही विचार हैं। इसके विपरीत अनुभववादियों के अनुसार इन्द्रिया-नुभव ही हमारे ज्ञान की सीमा है। हमारा ज्ञान उन्हीं वस्तुओं तक सीमित है जो हमारे अनुभव के विषय हो सकते हैं। जो वस्तुएँ हमारे अनुभव की विषय नहीं वन सकतीं, उनका हमें ज्ञान कदापि नहीं हो सकता। लॉक, वर्कले, ह्यूम एवं काण्ट के यही विचार हैं।"[3]

1. समकालीन दार्शनिक समस्याएं—स० यशदेव शल्य, पृ० 31-32
2. दार्शनिक त्रैमासिक वर्ष 11 जनवरी 1965 अंक 1, पृ० 18-19
3. आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास—जगदीश सहाय श्रीवास्तव, पृ० 27

मूल्य की समस्या

दार्शनिक जगत् में मूल्य की समस्या उतनी ही गम्भीर है जितनी कि ज्ञान और सत्य की समस्या। ज्ञान और सत्य की समस्या की तरह मूल्य की समस्या भी मानव जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। मनुष्य जो भी कार्य करता है, उसके मूल्य को अपनी दृष्टि में रखता है। उसकी चेतना में यह बात बराबर रहती है कि किसी कार्य को सम्पादित करने पर उसको क्या लाभ होगा जो कि उस कर्म का मूल्य है। यह मूल्य भावना (Feeling) से जुड़ा हुआ होता है। वास्तविकता तो यह है कि मूल्यों के बिना कुछ सोचना भी असम्भव है।[1] क्योंकि ज्ञान की समस्या मूल्य से जुड़ी हुई है। अर्बन का ही कथन है कि ज्ञान की समस्या मूल्य की समस्या का एक भाग है जिसको अलग नहीं किया जा सकता।[2] ज्ञान स्वयं मूल्य की ओर बढ़ता है और उसी मूल्य के कारण से वह ज्ञान होता है, ज्ञान कहा जाता है।

मूल्य का सम्बन्ध मानव की भावना से ओत-प्रोत है। इसी कारण "दार्शनिक उन मूल्यों को जानना चाहता है जिनसे मनुष्य के कर्म, भाव तथा विचार को दिशा प्राप्त हो।"[3] इस संदर्भ को जब हम मूल्य से मिलाकर देखते हैं तब अर्नब का कथन स्मरण हो आता है कि मानव मूल्य के सम्बन्ध में मानव अपनी ही भावना को व्यक्त करता है किन्तु यह भी कहा जाता है कि मूल्य मानव इच्छाओं एवं भावनाओं की अभिव्यक्ति मात्र नहीं है। विश्वास किया जाता है कि मूल्य ही वास्तविक सत्ताओं (Actual entity) के आधारभूत सिद्धान्त (Fundamental principles) है।

मूल्य के बिना सत्य की व्याख्या असम्भव है। राजेन्द्र स्वरूप भटनागर का मत है कि "मूल्य सत् का एक ऐसा आयाम है जिसके बिना सत् की व्याख्या संभव नहीं है।"[4] क्योंकि सत् का अन्वेषण, सत् के मूल्य को निर्धारित करता है। दूसरे शब्दों में हम कहें कि मूल्यों का अस्तित्व ही मानव एवं विश्व को अर्थ प्रदान करता है।

---

1. "All values depend on feeling, on some form of conscious or living experience. Familiar with values in one own experience, we feel it impossible to conceive anything avoid of value". Beyond Realism and Idealism—Urban. p. 64.
2. "The problem of knowledge is part of the problem of values at large and cannot be separated from it." Ibid p. 65.
3. दार्शनिक त्रैमासिक वर्ष 13, अंक 3 जुलाई 1767, पृ० 117
4. वही, पृ० 118

कुछ दार्शनिक मूल्यों का सम्वन्ध किसी देश की संस्कृति का आधार मानते हैं। शांतिनाथ गुप्ता 'दी इंडियन कॉन्सेप्ट ऑफ वेल्यू' में लिखते हैं कि "मूल्य का विचार इसलिए महत्वपूर्ण नहीं है कि आज के दार्शनिक चिन्तन में यह एक विशेष धारा है। किन्तु यह एक देश की सांस्कृतिक आकार की धरातल का निर्माण है।"[1] डॉ० नन्द किशोर देवराज का कथन है कि "दर्शन का विषय वे मूल्य (Value) और उनकी उत्पादक क्रियाएँ हैं जो मानव व्यक्तित्व को समृद्ध और गुणात्मक दृष्टि से उन्नत बनाने वाली है।"[2]

मूल्यों का अध्ययन नीतिशास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है। मेयर और राख 'इथिक्स एण्ड मार्डन वर्ल्ड' में लिखते हैं कि "नीतिशास्त्र प्राथमिक रूप से मूल्यों का अध्ययन है।"[3] हेनरी स्टुअर्ट मानवीय मूल्यों की चर्चा में कहते हैं कि, "मानवीय मूल्य सिद्धान्त ही समस्त नैतिकता का सिद्धान्त है।"[4]

मूल्य का संक्षिप्त इतिहास

मूल्य की समस्या पर विचार करने के पहले मूल्य का संक्षिप्त इतिहास जान लेना उचित होगा। मूल्य के इतिहास पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि प्लेटो, काण्ट और फिशर ने अपनी-अपनी रचनाओं में मूल्य को स्थान दिया है किन्तु इसकी स्थापना 19वीं शताब्दी में की गई जो कि उस शताब्दी की सबसे बड़ी देन है और 20वीं शताब्दी में दर्शन जगत् ने इसे मान्यता दे दी।

नीत्शे (1844-1900) ने मूल्यों के क्षेत्र में गवेषणा की और मूल्यों के मूल्यान्तरण पर वल दिया। विडलवैंड (1848-1915) ने प्रतिमाओं, आदर्शों या नियमों (Norms) के अध्ययन को ही दर्शन माना। रिकर्ट ने मूल्य को अन्तर्भाव में उसको निहित जाना और मुन्सटर वर्ग ने मनोवैज्ञानिक और तार्किक युक्तियों के माध्यम से मूल्यों का दर्शन (Philosophy of Value) को दिशा प्रदान की। यह समस्त चिन्तक आदर्शवादी दार्शनिक थे। अन्य आदर्शवादी जिन्होंने मूल्य के क्षेत्र में योगदान दिया वे हार्टमन और अर्वन हैं।

यथार्थवादियों ने भी मूल्य के अध्ययन को अपना क्षेत्र वनाया और आदर्श-

---

1. 'The concept of value is important not because it is one of the leading trends of recent Philosophical thinking but also because it forms the bases of the cultural pattern of a nation."—The concept of value—Shanti Nath Gupta. p.
2. पूर्वी और पश्चिमी दर्शन—डॉ० नन्द किशोर देवराज, पृ० 202
3. "Ethics is primarily the study of value".
4. Human value—Henry stuart. p. 44.

वादियों के मूल्य सम्बन्धी विचारों की आलोचना की। इन विचारकों में ब्रिन्टेना (1838-1917) सबसे प्रथम व्यक्ति थे। यथार्थवादियों में मुख्यत: जी० ई० मूर ने प्रिन्सिपिया इथिका' में जॉन लेयर्ड ने 'दी आयडिया ऑफ वेल्यू' में, और एल्फ बर्टन पेरी ने 'दी जनरल थियोरी ऑफ वेल्यू' में मूल्य संबंधित विचार यथार्थवादी दृष्टि-कोण से प्रस्तुत किये हैं। गोविंद चन्द्र पाण्डे 'मूल्य-मीमांसा में पेरी के सम्बन्ध में लिखते हैं कि "पेरी ने अमरीकी नवयथार्थवाद के अनुसार मूल्य का अनुभव-मूलक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है जिसमें मूल्य रुचि लेने पर आश्रित है और रुचि मनुष्य को सकाम कर्म में प्रयुक्त करती है।"[1]

उपरोक्त दार्शनिकों के अतिरिक्त एयर, स्टीवेन्सन, सी० आई० लेविस तथा जी० एच० वान राइट के नाम भी विशेष महत्वपूर्ण हैं। एयर और स्टीवेन्सन मनो-विज्ञान से भी आगे बढ़कर भाषा विश्लेषण के द्वारा मूल्य को समझ लेना चाहते हैं।[2]

आज के वैज्ञानिक युग में मूल्यों के विभिन्न रूपों को विकास अथवा सृजन की प्रक्रिया के अन्तर्गत देखने का प्रयत्न किया गया है। गोविन्दचन्द्र पाण्डे लिखते हैं कि "आधुनिक युग में मूल्यों को मानवीय रामकहानी में स्वतन्त्र, सृजनात्मक विकासोन्मुख उद्योग की उपलब्धि के रूप में सोचने-समझने की एक नई प्रवृत्ति मिलती है, जिसके अनुसार वे नित्य पद से उतर कर जैव विकास अथवा सामाजिक विकास के अंग बन जाते हैं। हेगेल और मार्क्स कोंत और स्पेन्सर, नीत्शे, बर्गसां, ह्वाइट हेड सभी ने मूल्यों को विभिन्न रूपों में विकास अथवा सृजन की प्रक्रिया के अन्तर्गत माना है।[3]

मूल्य की परिभाषा

मूल्य की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं जिससे हमें ज्ञात हो जायेगा कि दार्शनिकों के मत एक दूसरे से कितने भिन्न हैं और मूल्य का विषय कितना विवादा-स्पद है।

मकेंजी के अनुसार "मूल्य शुभ और अशुभ के पर्यायवाची हैं।" मनोवैज्ञा-निक परिभाषा के अनुसार "मूल्य सन्तुष्टि, इच्छा, आनन्द का एक दृष्टिकोण है जो वस्तु के मूल्यांकन में वस्तु की ओर होता है।" सामाजिक परिभाषा के अनुसार

---

1. मूल्य मीमांसा—गोविन्द चन्द्र पाण्डे, पृ० 28-29
2. देखिये—Language of morals–A.J. Ayer; Ethics and Language–Stevenson.
3. मूल्य मीमांसा—गोविन्द चन्द्र पाण्डे, पृ० 25

"सामाजिक रूप से अनुमोदित आदर्श अथवा उद्देश्य, अथवा जो समाज की प्रगतिशीलता में सहायक हो, मूल्य है।

"क्रिश्चियन वॉन एरेनफेल्स ने मूल्य (Desire) का विषय माना है। माइनांग ने भावना (Feeling) का विषय माना है। एरेनफेल्स के मत को ही किंचित् संशोधित परिवर्तित करके पेरी ने कहा कि मूल्य रुचि (Interest) का विषय है। सोरले ने मूल्य को मूल्यांकन (Appreciation) का विषय माना है। अरवन ने सब के मतों का समन्वय करते हुए कहा कि मूल्य विषयगत (Objective) है और मूल्यांकन से निर्धारित होने के बजाय वे स्वयं मूल्यांकन को निर्धारित करते हैं फिर इस मूल्यांकन की प्रक्रिया में ज्ञान, इच्छा क्रिया तथा भावना तीनों का मेल रहता है, इस प्रकार मूल्य का सम्बन्ध मात्र ज्ञान, मात्र इच्छा या मात्र भावना से नहीं है अपितु मूल्य समग्र चेतना का विषय है। इस प्रकार अरवन ने मूल्यों को चेतननिष्ठ माना। निकोलाई हार्टमन ने चेतन-निष्ठ मानने के स्थान पर इसे स्वनिष्ठ माना। मूल्य स्वतः तत्व है। यह विचार (ज्ञान) भावना और इच्छा से उत्पन्न नहीं होती क्योंकि मूल्य चेतना की उत्पत्ति नहीं है।[1] यथार्थवादी कहते हैं कि मूल्य अपरिभाषित और अविश्लेषणात्मक है—वे केवल साधारण और वस्तु के गुण हैं।[2]

मूल्य की परिभाषा करते हुए अरवन कहता है कि "मूल्य वह है जो मनुष्य की इच्छा की तृप्तिकारक सभी वस्तुओं में मूल्यवान है अर्थात् शुभ है।" गोविंदचन्द्र पाण्डे मूल्य की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि "मूल्य किसी पदार्थ की ऐसी विशेषता या खूबी है जिसका ठीक पता परखने पर चलता है और जिसका पता चलने पर चेतना उसकी ओर एक प्रशंसनीयता के भाव आकृष्ट होती है और उसकी यथा-योग्य प्राप्ति को उचित मानती है।"[3]

मूल्यों से सम्बन्धित समस्यायें

आदिकाल से मानव कुछ न कुछ, चाहे वैयक्तिक हो अथवा सामाजिक या राजनैतिक, राष्ट्रीय या अर्न्तराष्ट्रीय या आर्थिक चाहता ही है और जब उसे वह लक्ष्य प्राप्त होता है, उसे संतोष होता है। यही संतोष मूल्य शब्द के रूप में महत्वपूर्ण बन जाता है। शैक्षणिक जगत् में आदर्शवादियों और यथार्थवादियों ने मूल्य को लेकर

---

1. नीति शास्त्र का सर्वेक्षण—संगमलाल पाण्डे, पृ० 305
2. "Realists who think value to be undefinable and unanalysable—a simple and intransic quality of things".—The Philosophy of Value—Osborne p. 2.
3. मूल्य मीमांस—गोविंदचन्द्र पाण्डे, पृ० 253

कई प्रश्न उठाए हैं, जिससे समस्याओं का निर्माण हुआ है। मूल्य मीमांसा में विशेष-कर चार समस्याएँ विचारणीय हैं—(1) मूल्यों का स्वरूप, (2) मूल्यों के प्रकार, (3) उनकी समीक्षा के प्रतिमान और (4) उनकी सत्तात्मक स्थिति।"[1] एच० ओसबोर्न के अनुसार "मूल्यों के दर्शन में महत्वपूर्ण समस्या प्राकृतिक और अप्राकृतिक सिद्धान्तों के बीच निर्णय करना है।[2] अब हम एक-एक करके चारों समस्याओं पर विचार करेंगे।

मूल्य क्या है ?

अधिकतर दार्शनिक मूल्य का उपयोग शुभ आदि के रूप में किया जाता है। किन्तु दार्शनिकों की प्रथम समस्या कि यथार्थ में मूल्य क्या है ? कुछ दार्शनिक इसे विस्तृत रूप प्रदान करते हैं। वे औचित्य, दायित्व, सद्गुण, सौंदर्य एवं पवित्र को भी मूल्य के अन्तर्गत मानते हैं। यहाँ एक प्रश्न यह है कि मूल्य का केवल विधानात्मक पक्ष ही है ? ऐसे दार्शनिक जो यह विश्वास करते हैं, वे इसके ऋणात्मक पक्ष को भूल जाते हैं। वे वहीं तक सीमित हो जाते हैं और ऋणात्मक पक्ष को मूल्यहीन मानते हैं। अशुभ, असत्य, असुन्दर के कारण ही शुभ, सत्य और सुन्दर का बोध होता है। ऐसे दार्शनिक जो उभय पक्षों को समान रूप से मानते हैं, वे भी मूल्य को दो वर्गों में बाँट देते हैं :—

धनात्मक पक्ष अथवा भावात्मक मूल्य और ऋणात्मक पक्ष अथवा अभावात्मक मूल्य। कुछ दार्शनिक यह मानते हैं कि मूल्य निष्पक्ष होते हैं। इन भेदों की चर्चा आगे करेंगे।

इस प्रकार मूल्य के स्वरूप की समस्या दो विरोधी, आदर्शवादी और यथार्थ-वादी, पक्षों के कारण ही है। मूल्य की समस्या के बारे में शांति जोशी लिखती हैं कि "यदि मूल्य के आधार पर नैतिकता अथवा आचरण के शुभत्व को समझा जाता है तो मूल्य से हमारा क्या अभिप्राय है ? जीवन में उसका क्या स्थान है ? मानस के किसी भी सिद्धान्त, विचार और धारणा को हम मूल्य का रूप नहीं दे सकते। यदि व्यक्ति किसी सामाजिक प्रचलन के अनुरूप कर्म करता है और सामाजिक दृष्टि से उसका आचरण शुभ है तो नैतिक दृष्टि से उसके आचरण को मूल्य नहीं कहा जा सकता। मूल्य उस सत्य को कह सकते हैं जिसके लिए व्यक्ति या समाज

---

1. दर्शन की मूल धाराएँ—डॉ० अर्जुन मिश्र, पृ० 31
2. "The first and most fundamental problem in the philosophy of value is, then, to decide between naturalistic and non-naturalistic theories." The Philosophy of Value—Osborne, p. 19

जीवित रहता है और जिसके लिए आवश्यकता पड़ने पर वह संघर्ष करने, दुःख सहने तथा मृत्यु को स्वीकार करने के लिए भी तत्पर है।"[1]

कुछ लोग मूल्य शब्द से उन वस्तुओं का निर्देश करते हैं जिनका मूल्यांकन किया जाता है। कुछ लोग उन वस्तुओं की विशेपता, गुण या धर्म को।[2] रघुनाथ गिरी लिखते हैं, "मूल्य को वस्तु रूप मानने वालों में भी दो मत हैं। प्रथम मत के समर्थक यह मानते हैं कि इस शब्द का प्रयोग उस वस्तु के निर्देश के लिए होता है जिसे मूल्यवान कहा या समझा जाता है किन्तु दूसरे पक्ष के समर्थक इस मत का विरोध करते हुए यह कहते हैं कि मूल्य शब्द से उस पदार्थ का निर्देश होता है जो वास्तव में मूल्यवान या अच्छा होता है, केवल माना ही नहीं जाता।"[3]

जो दार्शनिक मूल्यांकन किये जाने वाले पदार्थ के गुण, धर्म या विशेपता को मानते हैं उनमें भी मतभेद है। कुछ लोग इसे एक भौतिक या प्राकृतिक या विशेपता मानते हैं जो इन्द्रियानुभव गम्य है तथा जिसकी परिभापा की जा सकती है। पेरी इस मत का समर्थन करते हैं और मानते हैं कि यह एक सम्बन्धात्मक गुण या विशेपता है जो इच्छा या अभिरुचि का विपय होता है। पार्कर इसे इच्छा की संतुष्टि का विपय कहते हैं तथा लेविस और राइस के अनुसार यह एक उपभोग गुण है जिसका रसास्वादन किया जाता है।

आदर्शवादी इसे एक ऐसा अभौतिक अथवा अतिभौतिक गुण मानते हैं जिसका न तो इन्द्रियानुभव द्वारा ही प्रत्यक्ष हो सकता है और न इन्द्रियानुभवाश्रित विज्ञान का विपय ही बनाया जा सकता है। आदर्शवादी केवल एक विचार "होना चाहिए (Oughtness) को स्वीकार करते हैं जिस शब्द में मूल्य की व्याख्या हो सकती है।[4]

"विश्लेपणवादी एवं अस्तित्ववादी दार्शनिकों का कहना है कि मूल्य तो द्रव्य रूप है, न प्राकृतिक या भौतिक गुण रूप और न अतिभौतिक या अप्राकृतिक गुण रूप। जहाँ कहीं मूल्य पद तथा इसके संबंधी पद का प्रयोग होता है वहाँ किसी गुण, धर्म या विशेपता का बोध नहीं होता अपितु एक विशेप अर्थ या क्रिया का संकेत होता है। इनमें से कुछ लोग यह मानते हैं कि मूल्यात्मक परामर्श या तो मनोवृति, इच्छा, संवेग आदि को अभिव्यक्त करते हैं अथवा दूसरे में इसी प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। इस मत के समर्थकों में एयर, रसेल एवं स्टीवेन्सन आदि का नाम विशेप उल्लेखनीय है।"[5]

1. नीतिशास्त्र—शांति जोशी, पृ० 301
2. दार्शनिक त्रैमासिक वर्प 14 अक्टूबर 1964, तथ्य और मूल्य, पृ० 288
3. वही, पृ० 289
4. The Philosophy of Value–H. Osborne, p. 22.
5. दार्शनिक त्रैमासिक वर्प 14 अक्टूबर 1968, अंक 4, पृ० 289

कुछ दार्शनिक तो मूल्यात्मक परामर्श को निर्देश, संस्तुति अथवा तारतम्य स्थापक क्रिया मानते हैं। इसके समर्थन में टेलर तथा पेट्रिक का नाम लिया जा सकता है।

एक प्रश्न और उठाया जाता है कि क्या मूल्य सामाजिक विकास प्रक्रिया के परिणाम हैं या इनका कोई प्राकृतिक आधार भी है जो मनुष्य के अन्तर्गत है?

मूल्यों के प्रकार

मूल्य की व्याख्या में दूसरी समस्या उसके प्रकारों की है क्योंकि दार्शनिक विविध रूपों में इन्हें अलग-अलग वर्गों में बाँटते हैं। वैसे सभी मूल्यवादियों ने मूलतः दो प्रकार के मूल्य माने हैं जिन्हें साधनभूत मूल्य (Instrumental value) और साध्यभूत या स्वतः मूल्य (Intrinsic value) कहा जाता है। भोजन, मकान, वस्त्र, स्वास्थ्य, धन आदि साधन भूत मूल्य हैं। वे हमारे जीवन के लिए सहायक हैं। वे स्वतः मूल्य नहीं हैं। वे परिणाम के कारण मूल्य हैं। सत्यं, शिवं सुन्दरम् स्वतः मूल्य हैं। कुछ द्वैतवादी आन्तरिक मूल्यों (Intrinsic values) को नित्य (Eternal) और वाह्य अथवा सहायक मूल्यों (Extrinsic) को अनित्य एवं क्षणिक मानते हैं। अर्थक्रियावादी (Pragmatist) डीवी का मत है कि कोई भी मूल्य शाश्वत और स्थिर नहीं हैं। उसका मत है कि मूल्य मानव निर्मित है। समय के साथ घटनाओं में परिवर्तन के साथ-साथ नये अनुभव बनते रहते हैं। डीवी ने मूल्य के सम्बन्ध में उपयोगितावाद के सिद्धान्त को अपनाया है 'परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मूल्य जब चाहें तब बन जाते हैं। मूल्यों का रूप शीघ्र नहीं बदला करता।'[1]

दार्शनिक दृष्टि से मूल्यवाद के चार प्रकार माने गये हैं जिन्हें दृश्यताविज्ञानिक सिद्धान्त (Phenomenolgical theory) प्रस्ततावाद (Timology), मनोवैनिक सिद्धान्त (Psychological theory) और अध्यात्मवादी सिद्धान्त (Idealistic or Spiritualistic theory) कहा जाता है। आजकल दृश्यता विज्ञानिकवादी अथवा वस्तुवादी और आध्यात्मिक अथवा आदर्शवादियों के बीच ही मूल्य संबंधी विवाद देखे जाते हैं। मूल्य का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त तो ज्ञान और मूल्य के अस्तित्व दोनों को नकार देता है।[2]

वस्तुवादियों में से अधिकांश मूल्यों को गुण मानते हैं। उनमें से कुछ मूल्यों को संबंध मानते हैं। अध्यात्मवादी (Idealistic) सिद्धान्त के अनुसार मूल्य तत्त्व, गुण तथा सम्बन्ध नहीं है। मूल्य वास्तव में अपरिमापेय है। वे आदर्श (Ideals or norms) हैं और वास्तविकताओं या तथ्यों से पूर्णतया भिन्न हैं। मूल्य आध्यात्मिक है।

---

1. समकालीन दर्शन—रामनाथ शर्मा, पृ० 295
2. The Philosophy of Value—H. Osborne, p. 20

अर्बन ने मूल्यों को दो प्रकारों में विभाजित किया है। (1) जैविक मूल्य और (2) अति जैविक मूल्य। अति जैविक मूल्य के पुनः दो भेद किये हैं— (1) सामाजिक मूल्य और आध्यात्मिक मूल्य। यही नहीं इसी कारण मूल्य के वर्गीकरण की समस्या दार्शनिकों की समस्या है जिसकी चर्चा हम अब करेंगे।

मूल्यों का वर्गीकरण

मूल्य के विषय में एक समस्या उसके विभाजन की है। दार्शनिकों ने अलग-अलग रूप से इनका विभाजन किया है और वह एक मत नहीं है।

अर्बन ने मूल्यों को आठ भागों में विभाजित किया है—(1) शारीरिक मूल्य, (2) आर्थिक मूल्य, (3) मनोरंजन के मूल्य, (4) साहचर्य के मूल्य, (5) चरित्र मूल्य, (6) सौंदर्य मूल्य, (7) बौद्धिक मूल्य, (8) धार्मिक मूल्य। अर्बन ने नैतिक व सामाजिक मूल्यों को विभिन्न वर्गों में रखा है किन्तु उनके भेद को समझाया नहीं है।[1]

शारीरिक और आर्थिक मूल्य जीवन के लिए नितान्त आवश्यक हैं। वे अन्य मूल्यों के भी आधार हैं किन्तु वे इतने महत्वपूर्ण नहीं हैं जितने कि अन्य। शारीरिक मूल्य जैसे अन्न, जल आदि, आर्थिक मूल्य धन, सम्पति आदि; मनोरंजन मूल्य खेल, तमाशा आदि; साहचर्य मूल्य सहयोग आदि; चारित्रिक मूल्य सच्चाई, ईमानदारी आदि; सौंदर्य सम्बन्धी मूल्य जैसे कला, चित्रकारी आदि; बौद्धिक मूल्य ज्ञान, तथा धार्मिक मूल्य ईश्वर की सत्ता आदि, अर्बन गिनाता है। क्या यह वर्गीकरण सही है?

आर० बी० पेरी और टेलर की दृष्टि में मूल्य सात भागों में विभाजित किये जा सकते हैं :—

(1) नैतिक मूल्य, (2) कलात्मक मूल्य, (3) विज्ञानात्मक मूल्य, (4), धार्मिक मूल्य, (5) आर्थिक मूल्य, (6) राजनैतिक मूल्य और (7) विधि सम्बन्धी एवं प्राचीन मूल्य।[2]

लेविस की दृष्टि में मूल्य का वर्गीकरण एक विशेषता लिए हुए है। वे मूल्य का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप से करते हैं :—

(1) किसी उद्देश्य के लिए उपयोगिता, (2) बाह्य या साधन मूल्य, (3) समवेत या साध्य मूल्य, जो स्वतः शुभ एवं इष्ट हो, (4) सहयोगात्मक मूल्य, वह मूल्य जो स्वयं किसी अनुभव का अंश होकर सम्पूर्ण अनुभव में अपना सहयोग प्रदान करते हैं। वे एक उदाहरण देते हैं कि "एक लकड़ी का टुकड़ा वीणा बनाने के लिए उपयोगी हो सकता है, वीणा अच्छे संगीत का साधन बन सकती है, संगीत समवेत मूल्य हो सकता है यदि इसके सुनने से आनन्द का अनुभव होता है। यह

---

1. दार्शनिक त्रैमासिक वर्ष, 14 जनवरी 1968, अंक 1, पृ० 28
2. वही, वर्ष 14 अक्टूबर 1968, अंक 4, पृ० 282

संगीतानुभव यदि किसी बड़े समारोह का एक अंश मात्र हो तो उसका सहयोगात्मक मूल्य हो सकता है।"[1]

वान राइट के मत से मूल्य का वर्गीकरण इस प्रकार होना चाहिए :—

(1) साधन मूल्य जैसे एक अच्छा यन्त्र, (2) तकनीकी मूल्य जैसे एक अच्छा चालक, (3) उपयोगितात्मक मूल्य जैसे एक अच्छी सलाह, (4) सुखात्मक मूल्य जैसे एक अच्छा भोजन, (5) कल्याणात्मक मूल्य जैसे मानव की एक अच्छाई।

मूल्यों के मापदण्ड की समस्या

दार्शनिकों के सामने मूल्यों के मापदण्ड को लेकर भी समस्या बनी रही है। प्रश्न यह है कि क्या मूल्य के मापदण्ड बनाये जा सकते हैं। क्या ऐसे मापदण्ड मूल्यों में निहित हैं अथवा निर्णयों में जो हम मूल्यों के आधार पर करते हैं अथवा दोनों में। अरबन अपनी पुस्तक (Fundamentals of Ethics) में लिखता है कि "मूल्य का मापदण्ड सुख की मात्रा में नहीं वरन् समग्र आत्म सिद्धि के कार्यात्मक संप्रत्यय में पाया जा सकता है।"[2] उत्तर में यही मानना पड़ता है कि जहाँ तक ये मूल्य एक दूसरे के समान हैं और उनमें कोई सामान्य अथवा व्यापक तत्व पाया जाता है, वहाँ तक मूल्यों में मापदण्ड हो सकते हैं, और मूल्य शास्त्र के भिन्न अंगों में ऐसे मापदण्डों (Standard) पर विचार भी होता है। रसेल कहते हैं, "इच्छाओं को प्रभावित करने के कारण ही नैतिक प्रत्ययों का महत्व है, क्योंकि सम्पूर्ण मानवीय व्यवहार की प्रेरक शक्ति इच्छा ही है। मानवीय इच्छा से पृथक् कोई नैतिक मान-दण्ड नहीं हो सकता।"[3] अपने इसी मत को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है, "यदि हममें इच्छाएँ न होतीं तो हम शुभ-अशुभ के विरोध के सम्बन्ध में कभी सोच ही नहीं सकते थे यदि हम अपने प्रति बिल्कुल उदासीन होते तो हम शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित तथा प्रशंसनीय और निन्दनीय के द्वैत में विश्वास न करते, और हमें अपने आपको केवल भाग्य के भरोसे छोड़ देने में कोई कठिनाई न होती। इच्छा रहित निर्जीव विश्व में कुछ भी शुभ या अशुभ नहीं होता।" मैं यह मानता हूँ कि जब कोई घटना अथवा वस्तु हमारी इच्छा को तृप्त करती है तो वह शुभ है। यह कहना अधिक ठीक होगा कि 'शुभ' का अर्थ ही इच्छा की तृप्ति है।"[4]

---

1. दार्शनिक त्रैमासिक वर्ष, 14 अक्टूबर 1968, अंक 4, पृ० 282
2. "The standard of value is found then, not in degree of happiness but in the functional conception of total self-realization". Fundamentals of Ethics—Urban, p. 175
3. What I believe - Russell, p. 30
4. Human Societies in Ethics and Politics—B. Russall, p. 55

मूल्य बोध की समस्या

डॉ० सागरमल जैन का कथन है कि "मूल्य बोध मानवीय प्रज्ञा के विकास के साथ ही शुरू होता है अतः वह उतना ही प्राचीन है जितना मानवीय प्रज्ञा का विकास"[1] फिर भी मूल्य बोध की समस्या दार्शनिकों के बीच प्रश्न चिह्न के समान बनी हुई है, प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य, मूल्यों का बोध अथवा अनुभूति उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार से हमें संसार के तथ्यों और घटनाओं का बोध अथवा प्रतीति होती है ? अगर यह धारणा सही है तो अंततः यही निर्णय उचित जान पड़ता है कि मूल्य 'तथ्यों' से भिन्न है। एच० एम० जोशी मूल्य बोध के विषय में लिखते हैं कि "मूल्य बोध में विषय के साथ एक अन्तर्गत सम्बन्ध रहता है। ये मूल्य-विषय मानव-विज्ञान के अध्ययन के विशिष्ट क्षेत्र है।[2] अनेक विचारकों ने मूल्य बोध को मनोवैज्ञानिक तरीके से समझने का प्रयास किया है। मूल्य-बोध वास्तविकता में न तो शुष्क ज्ञान है और न मात्र संवेदन। गोविन्द चन्द्र पाण्डे के अनुसार "मूल्य बोध न कोरा तर्क है, न कोरी भावना।"[3]

मूल्य बोध एक सहज प्रक्रिया न होकर एक जटिल प्रक्रिया है। क्योंकि मूल्य चेतना में ज्ञान, भाव, इच्छा तीनों ही रहते हैं। इतना ही नहीं, मूल्य बोध में देश-काल और परिवेश के तत्व भी चेतना अपना प्रभाव डालते हैं। मूल्य बोध में मानवीय चेतना के विविध पहलू एक दूसरे से संयोजित होते हैं। मूल्यांकन करने वाली चेतना भी बहु आयामी है, उसमें ज्ञान, भाव और संकल्प उपस्थित रहते हैं।

मूल्य बोध न तो कुर्सी और मेज के ज्ञान के समान तटस्थ ज्ञान है और न प्रेयसी के प्रति प्रेम की तरह भावावेश है। वह मात्र इच्छा या रुचि का निर्माण भी नहीं है। वह न तो निरा तर्क है और न निरी भावना या संवेदन। इच्छा स्वयं में कोई मूल्य नहीं है, उसकी अथवा उसके विषय की मूल्यात्मक का निर्णय स्वयं इच्छा नहीं, विवेक करता है, भूख मूल्य नहीं है, रोटी मूल्यवान है।[4]

संगम लाल जी पाण्डे की 'मूल्यों की त्याग रूपता का सिद्धान्त' की आलोचना करते हुए डॉ० सागरमल जैन ने कहा है कि "श्री संगम लाल पाण्डे जी का मूल्यों की त्याग रूपता का सिद्धान्त भी एकांगी ही लगता है। उनका यह कहना कि 'निवृत्ति ही मूल्यसार है' ठीक नहीं है। मूल्य में निवृत्ति और सन्तुष्टि (प्रकृति)

---

1. दार्शनिक त्रैमासिक वर्ष 23, अंक 4, 1677, पृ० 221
2. वही, वर्ष 14 अक्टूबर 1968, पृ० 269
3. मूल्य मीमांसा—गोविन्द चन्द्र पाण्डे, पृ० 35
4. दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष 23, अंक 4, 1977—मूल्य बोध की सापेक्षता, पृ० 222-223

दोनों ही उपेक्षित है। मूल्य बोध की प्रक्रिया में निश्चित ही विवेक बुद्धि का महत्वपूर्ण स्थान है किन्तु यही एक मात्र निर्धारक तत्व नहीं है। मूल्य बोध न तो जैव प्रेरणा या इच्छा से उत्पन्न होता है और न मात्र विवेक बुद्धि से। मूल्य बोध में भावात्मक पक्ष का भी महत्वपूर्ण स्थान होता है, किन्तु केवल भावोन्मेष भी मूल्य बोध नहीं दे पाता है।

"मूल्य न तो पूर्णतया वस्तु तन्त्र है और न आत्म तन्त्र ही। हमारा मूल्यबोध आत्म और वस्तु दोनों से प्रभावित होता है।"[1]

आदर्शवादी और यथार्थवादियों में मूल्य को लेकर निम्न भेद पाये जाते हैं:—

(1) आदर्शवादी मानते हैं कि मूल्यों की व्याख्या की जा सकती है जबकि यथार्थवादी यह मानते हैं कि मूल्यों की व्याख्या नहीं हो सकती।

(2) आदर्शवादी सिद्धान्त दर्शन में केवल एक सत्ता को ही मानते हैं जबकि यथार्थवादी दो सत्ताओं को मानते हैं जो कि परिभाषीय नहीं है।

(3) आदर्शवाद में मानव नैतिक कर्त्ता के रूप में मुख्य है नैतिक 'होना चाहिए' केवल मनुष्य के लिए ही नहीं है किन्तु विश्व के लिए है।[2]

(4) यथार्थवादी सिद्धान्त की मान्यता है कि मूल्य अप्राकृतिक और अस्तित्व दशाओं का प्राकृतिक गुण है। प्रो० मूर यह मानते हैं कि मूल्य शुद्ध और असम्बद्ध गुण है।[3] मूर यह मानते हैं कि मूल्य सरल, अपरिभाषेय और विचार का अविश्लेषणात्मक तथ्य है।[4]

(5) यथार्थवादी यह मानते हैं कि तर्क वाक्य (Propositon) "कि मुझे हमेशा ऐसी क्रिया करना चाहिए जिससे अधिकार मूल्य पैदा हो बनिस्बत कम" यह महत्वपूर्ण है जबकि आदर्शवादियों के लिए ऐसा तर्क वाक्य निरर्थक पुनरुक्ति (Tautotogus) है।[5]

(6) यथार्थवाद में आन्तरिक मूल्य और उचित में समन्वमात्मक संबंध होता है जबकि आदर्शवादी मानते हैं कि मूल्य और उचित में विश्लेषणात्मक सम्बन्ध होता है।[6]

1. दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष 23, अंक 4, 1977—मूल्य बोध की सापेक्षता, पृ० 224
2. The Philosophy of Value—H. Osborne. p. 22-23.
3. Ibid, p. 21
4. Ibid, p. 66
5. "Realism hold that the Proposition "I ought always to act in such a way as to produce a more valuable rather than a less valuable state of affairs is significant—Idealism holds that it is tantologous".
6. Ibid, p. 94

क्या मूल्य मानसिक होते हैं

मूल्य के सम्बन्ध में एक समस्या यह भी है कि क्या मूल्य मानसिक होते हैं अथवा नहीं। आदर्शवादी मूल्य को मानसिक मानते हैं। उनका मत है कि मूल्य एक प्रकार का अनुभव है, वह कोई वस्तु अथवा पदार्थ नहीं है। इच्छा ही मूल्यों का आधार है। जब तक इच्छा की पूर्ति का प्रयत्न अथवा उसकी चेष्टा नहीं होती, तब तक कोई मूल्य भी नहीं होता है। यदि इच्छाएँ नहीं होतीं तो मूल्य-अमूल्य अथवा शुभ-अशुभ का अस्तित्व भी नहीं होता। इसके विपरीत वास्तववादी अथवा यथार्थवादी दार्शनिक, मूल्यों को मानसिक नहीं मानते। उनका कथन है कि वस्तु तभी अच्छी लगेगी जब वह मूल्यवान होगी। अत: मूल्य ज्ञान अथवा दृष्टा (Subject) में नहीं होते बल्कि वस्तु(Object) में होते हैं। कुछ दार्शनिक ऐसा मानते हैं कि मूल्यों में दो प्रकार की विशेषताएँ पायी जाती हैं अर्थात् वह अनुभवकर्ता के अनुभव पर अवलम्बित होने के कारण मानसिक भी कहे जा सकते हैं और जिस वस्तु में ऐसा अनुभव होता है, उस वस्तु में भी निहित है। इस प्रकार मूल्य के लिए यथार्थ वस्तु भी होना चाहिए और उसमें मनोरंजन लेने वाले मनस भी।

मूल्य का आश्रय कहाँ है

मूल्य का आश्रय कहाँ है ? इस संदर्भ में संगम लाल पाण्डे लिखते हैं कि "अरवन मूल्यों का आश्रय आत्माओं को मानते हैं। उनके लिए वे परमात्मा के आश्रय की आवश्यकता नहीं समझते।"[1]

अर्थक्रियावादियों का मत

अर्थक्रियावादी के मतानुसार उसी को मूल्य कहा जा सकता है जिसका उपयोग हो। इस सम्बन्ध में रामनाथ शर्मा लिखते हैं कि "अर्थक्रियावादी सत्यं, शिवं और सुन्दरं के आदर्शों को मनुष्य की आवश्यकताओं से अनुबद्ध मानते हैं। सत्य वही है जिसके आधार पर काम किया जा सके। श्रद्धा करना उचित है बशर्ते उसके व्यवहार में उपयोगिता हो।"[2]

अर्थक्रियावाद मूल्यों को पुरुष तंत्र, सापेक्ष और बुद्धि निर्भर मानता है। डीवी ने भी मूल्यों के सम्बन्ध में उपयोगितावादी सिद्धान्त को अपनाया है। उसके अनुसार मूल्यों का मानव घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिन मूल्यों का मानव जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है उनकी मानव जीवन में कोई उपयोगिता भी नहीं होगी तथा वे मूल्य निरर्थक हैं।

---

1. नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण—संगम लाल पाण्डे, पृ० 307।
2. समकालीन दर्शन—रामनाथ शर्मा, पृ० 295।

कुछ निरपेक्षवादी एवं यूनानी दार्शनिक मूल्यों को निरपेक्ष एवं शाश्वत मानते हैं। परन्तु डीवी इसका विरोध करते हैं। डीवी के अनुसार कोई भी मूल्य स्थिर एवं शाश्वत नहीं है। उनका कथन है कि मूल्य मानव निर्मित है। समय के साथ-साथ अनुभवों से उपजे नये अनुभव होते रहते हैं तथा इन मूल्यों में भी परिवर्तन होता रहता है।

अर्थक्रियावादी नीतिशास्त्र के अनुसार संक्षेप में (1) नैतिक मूल्य एक न होकर अनेक हो सकते हैं, (2) वे अन्तिम न होकर 'अंतरिम' होते हैं, अर्थात् उनका स्वभाव प्रागकल्पित होता है। वे निरपेक्ष न होकर परिस्थिति सापेक्ष होते हैं। (3) मूल्यों और तथ्यों में सुस्पष्ट भेद है, (4) मूल्यों की खोज विमर्शात्मक चिंतन और वैज्ञानिक विधि द्वारा होनी चाहिए।

अर्थक्रियावादियों के अनुसार 'वस्तुओं की प्रकृति में आन्तरिकता कुछ भी नहीं है। वह स्वयं में स्वतंत्र सार रूप में वास्तविकता नहीं है किन्तु मनुष्य व समाज की विभिन्न इच्छाओं और आवश्यकताओं की सन्तुष्टि का परिणाम है।[1]

मूल्य का प्रकृतिवादी सिद्धान्त

प्राकृतिवादी सिद्धान्त प्राकृतिक गुण के आधार पर मूल्यों की व्याख्या करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार जिसे सुखवाद कहा जाता है, सुख (Pleasant) ही मूल्यवान है। सुखवादी कहते हैं कि ज्ञान मूल्यवान है क्योंकि वह सुख प्रदान करता है। परिणाम में वास्तविकता क्या है? क्या ज्ञान सुख देता है? मिल इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। यह सिद्धान्त चार प्रकारों में देखा जा सकता है—(1) एक मनुष्य में, (2) एक मनुष्य में जो वस्तु की अच्छाई का निर्णय करता है, (3) एक समूह में सभ्यता के स्तर पर, (4) मनुष्य के बहुमत में, (5) समस्त मनुष्यों में। इनकी व्याख्या सर डेविड रॉस ने अपनी पुस्तक 'दी राइट एण्ड दी गुड' में की है।

प्राकृतिक चुनाव सिद्धान्त (Natural Election Theory)

लेयर्ड ने 'प्राकृतिक चुनाव सिद्धान्त में बताया है कि तथ्य और मूल्य में भेद करने की, वास्तविक और नियमात्मक, शुद्ध अस्तित्व जिसका सम्बन्ध चेतना से नहीं है, आवश्यकता नहीं है। यह लेयर्ड का प्राकृतिक चुनाव सिद्धान्त है। वह लिखता है कि "मैं इसे प्रमाण मानता हूँ कि दो वस्तुओं की प्रकृति में एक दूसरे से सम्बन्ध में

---

1. "Value is nothing intrinsic in the nature of things, nor is it a reality by itself as an independent essence, but is a result of satisfaction of different wants and desires of an individual or of the society". Principles of Philosophy—H.M. Bhatta-Charya, p. 378.

पूर्ण उदासीनता है तो उनका कोई मूल्य नहीं है। यदि कुछ सम्बन्ध है भी तो केवल पारस्परिक (Relative) मूल्य है। उसका सिद्धान्त यह है कि मूल्य आन्तरिक, निरपेक्ष वस्तुगत है किन्तु वह मनस और चेतना से स्वतंत्र है।

मूल्यों का यथार्थवादी दृष्टिकोण

विभिन्न यथार्थवादियों ने विभिन्न रूप से मूल्य के विचार को रखा है किन्तु वे एक बात में साम्य रखते हैं कि मूल्य और मूल्य का निर्णय विश्व के आध्यात्मिक निर्माण में पूर्वधारित तथ्य नहीं है।[1]

आवेग-मूलक मूल्य सिद्धान्त

प्रो० ऐयर ने आवेग-मूलक मूल्य सिद्धान्त को आत्म-निष्ठावाद से पृथक् किया है। वे कहते हैं "यहाँ आत्मनिष्ठावादी यह कहता है कि नैतिक वक्तव्य कतिपय संवेदनाओं के अस्तित्व का कथन या घोषणा करते हैं, वहाँ हम मानते हैं कि नैतिक वक्तव्य या तो संवेदनाओं को अभिव्यक्त करते हैं अथवा संवेदनाओं को उकसाते हैं। इसके अनुसार, "सब नैतिक विधान आवेग के उद्‌गार और आविर्भाव है।"[2]

मूल्य सम्बन्धी कुछ दार्शनिकों के मत

रिकर्ट का मत

"मूल्य सत्ता के पूर्ववर्ती है। उनका न वस्तुओं की दुनिया में अस्तित्व है, न विचारों की दुनिया में, वे न सत् हैं न चेतन से संवंध रखते हैं। मूल्य न वस्तुओं की तरह है और न विचार के विषय।"

जे० एन० सिन्हा अपनी पुस्तक 'पश्चिमी दर्शन' में रिकर्ट के मत की आलोचना करते हुए लिखते हैं कि "रिकर्ट का मत अनुचित मालूम पड़ता है। ऐसे मूल्य जो विशुद्ध प्रतिभान हों, चैतन्य और सत्ता से सम्बन्ध न रखते हों अचिन्त्य हैं। रिकर्ट के मूल्य न तो देश और काल में अस्तित्व रखते हैं और न उनसे अतीत लोक में। वे बुद्धि के लिए अगम्य हैं। इसलिए दर्शन उनकी मीमांसा नहीं कर सकता और वे व्यर्थ हैं।"[2]

---

1. "Different realists have offered different aspects of the concept of value, but all of them agree in this that value and judgement of value need not suppose as their Precondition the spiritual constitution of the universe principles of Philosophy.—H.M. Bhattacharya, p. 376.
2. Language, Truth & Logic—A.J. Aiyer, p. 106
3. पश्चिमी दर्शन—जे० एन० सिन्हा, पृ० 264

एलेक्जेंडर का मत

एलेक्जेंडर विकासात्मक सुखवाद में विश्वास करता था इस कारण उसने मूल्यों को सामाजिक चेतना पर निर्भर माना है और उसका लक्षण उसने वैयक्तिकता को माना है। इसके साथ ही परिवेश और उसके सन्तुलन की बात कहते हैं। डॉ० हृदयनारायण मिश्र ने एलेक्जेंडर की आलोचना करते हुए कहा है कि "सन्तुलन और वैयक्तिकता दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते हैं। मूल्यों का खोजी परिवेश से समायोजन करने वाला होता है। वह परिवेश से ऊँचे उठकर, एक प्रकार से असमायोजन स्थापित करके, मूल्यों को अभिव्यक्त करता है। इस तरह हम देखते हैं कि एलेक्जेंडर के सिद्धान्त में असंगतियाँ और अस्पष्टताएँ बहुत हैं।"[1]

रसेल का मत

रसेल ने लिखा है कि "मूल्यों से सम्बन्धित प्रश्न ज्ञान की परिधि से बिल्कुल बाहर है अर्थात् जब हम यह कहते हैं कि अमुक वस्तु मूल्यावान है तो हम अपने संवेगों को ही व्यक्त करते हैं, किसी ऐसे तथ्य को नहीं जो हमारी व्यक्तिगत भावनाओं के भिन्न होने पर सत्य होता।...जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि अमुक वस्तु अपने आपमें शुभ है तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह तथ्यात्मक बात कह रहा है। ...किन्तु मेरा विश्वास है कि ऐसा समझना हमारी भूल है। मैं समझता हूँ उस व्यक्ति के कथन का वास्तविक अभिप्राय यह है कि सभी उस वस्तु को पाने के इच्छुक हों।...नीतिशास्त्र में ऐसे तथ्यात्मक वाक्य नहीं होते जो सत्य अथवा असत्य हों, उसमें केवल हमारी सामान्य इच्छाओं की अभिव्यक्ति होती है।"[2]

पापर का मत

पापर मूल्य को निर्णय से उत्पन्न मानता है अर्थात् मूल्योत्पति मानव निर्णय से ही प्रतिफलित होती है। अतः उसका मूल्य-दर्शन संकल्पवादी है। इसके विपरीत नीति चिन्तन की मुख्य परम्परा यह मानती आई है कि निर्णय स्वयं मूल्य बोध से फलित होता है। यह तभी सम्भव है जब हमें मूल्यवान ध्येयों का पूर्ण बोध हो।[3] निर्णय तो केवल उस बोध की संकल्प द्वारा स्वीकारोक्ति है।

---

1. नीतिशास्त्र की भूमिका—डॉ० हृदयनारायण मिश्र, पृ० 151
2. Religion and Science—*B. Russell, p. 230, 235, 257*
3. दार्शनिक त्रैमासिक वर्ष *15*, अंक *2*, अप्रैल *1969*, पृ० *3*,

अध्याय | 2



दार्शनिक प्रणालियाँ

अन्तःप्रज्ञा प्रणाली

"दर्शन शास्त्र के अध्ययन का मूल प्रश्न यह है कि वैध ज्ञान को प्राप्त करने की प्रणाली (Method) क्या है ? दर्शन शास्त्र के इतिहास से ज्ञात होता है कि सत्त्वशास्त्र (Metaphysics) के चिन्तकों ने आदि काल से बुद्धि की अपेक्षा अन्तः-प्रज्ञा पर भरोसा किया है ।[1] पेट्रिक लिखता है कि "वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करने का एक मात्र मार्ग अन्तःप्रज्ञा है, जो निरन्तर परिवर्तनशील तथा नवीनता लिए हुए जीवित गत्यामत्क जगत् को स्पष्ट कर देती है । अतःप्रज्ञा के द्वारा हम जगत् की आन्तरिक वास्तविकता की अन्तर्दृष्टि प्राप्त करते हैं ।"[2]

अन्त प्रज्ञा क्या है ?

अन्तःप्रज्ञा न तो प्रत्यक्ष ज्ञान है और न काल्पनिक ज्ञान । किन्तु यह सही है कि अन्तःप्रज्ञा के द्वारा जो वस्तुएं मन के समक्ष उपस्थित होती हैं उन्हें प्रत्ययों के माध्यम से समझने की कोशिश अवश्य की जा सकती है । जगदीश सहाय श्रीवास्तव का कथन है कि "प्रतिभान (Intuition) एक विशुद्ध विश्लेपणात्मक वौद्धिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा हम किसी वस्तु के मूल अवयवों तक जाने का प्रयत्न करते हैं । यह कोई रहस्यमयी शक्ति नहीं है जो सन्तों-योगियों या भक्तों में पाई जाती है । यह कोई दिव्य दृष्टि नहीं है । यह बुद्धि का स्वाभाविक प्रकाश है । इसके अन्दर व्यापकता और गहनता दोनों गुण पाये जाते हैं ।[3] अन्तःप्रज्ञा के ज्ञान को समझने के लिए उदाहरणस्वरूप हम कह सकते हैं कि आकृति, विस्तार, गति इत्यादि का ज्ञान, $2+2=4$ तथा आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान तथा चैतन्य का ज्ञान अन्तःप्रज्ञा के

---

1. Types of Philosophy—Hocking, p. 116
   "Reliance on intuition in metaphysics is more ancient than reliance on intellect".
2. दर्शन शास्त्र का परिचय—पेट्रिक, पृ० 335
3. आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास—जगदीश सहाय श्रीवास्तव, पृ० 80

द्वारा ही प्राप्त होता है। अंतःप्रज्ञा की परिभाषा यह हो सकती है कि "अन्तःप्रज्ञा स्वतः प्रमाणित अथवा वैध (Valid) हैं। अन्तःप्रज्ञा साक्षात् या अपरोक्ष ज्ञान है।"[1] दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अन्तःप्रज्ञा वह ज्ञान है जो इन्द्रियों द्वारा प्राप्त नहीं होता। पेट्रिक महोदय का कथन है कि "अन्तःप्रज्ञा एक ऐसा अबौद्धिक ज्ञान है जो उन वस्तुओं के साथ अपरोक्ष तथा तात्कालिक संबंध रखता है जिसमें उनका वास्तविक स्वभाव अभिव्यक्त होता है। वास्तविक ज्ञान मात्र यही है।"[2]

पाश्चात्य दर्शन की दृष्टि

ग्रीक दर्शन में थेल्स का सिद्धान्त कि जल ही के कारण सभी वस्तुओं की अभिव्यक्ति होती है अर्थात् उसे यह ज्ञान अन्तःप्रज्ञा प्रणाली द्वारा ही प्राप्त हुआ था।

मध्यकाल के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वहाँ पर अन्तःप्रज्ञा विश्वास का ही एक रूप है। यह विश्वास सद्गुण की तरह है, जिसमें इच्छा क्रिया कार्य करती है, जो कि बुद्धि से परे है और इसी कारण विश्वास अन्तःप्रज्ञा है। सन्तों ने अन्तः-प्रज्ञा प्रणाली से उत्पन्न विश्वास को लेकर ही धर्म के सम्बन्ध में, ईश्वर के अस्तित्व के संबंध में, पाप-पुण्य के सम्बन्ध में, चर्चाएँ की हैं और आज भी अन्तःप्रज्ञा के आधार पर बहुत-सी समस्याओं का हल प्राप्त होता है।

अन्तःप्रज्ञा को ज्ञान का स्रोत मानने वालों में एफ० एच० जेकोबी (1743-1819) का नाम लिया जाता है जिसे विश्वास का दार्शनिक कहा जाता है।

पाश्चात्य दार्शनिकों में से ब्रेडले, बर्गसां, क्रोचे आदि ने प्रज्ञा की सीमाओं को जहाँ एक ओर स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है और सभी ने अव्यवहितत्व (Immediacy) को प्रज्ञा से अधिक महत्व दिया है[3] दूसरी ओर बुद्धिवादी डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइब्निज, लॉक आदि ने अन्तःप्रज्ञा पर बल दिया है और इस प्रणाली को भी महत्व प्रदान किया है।

डेकार्ट 'बुद्धि के निर्देश नियम' में अन्तःप्रज्ञा को परिभाषित करते हुए कहा है कि "प्रतिभान से हमारा तात्पर्य न तो इन्द्रियों के अस्थिर साक्ष्य से है और न इस भ्रामक निर्णय से है जो दोष पूर्ण कल्पना विधान से उत्पन्न होता है वरन् उस धारणा से है जिसे विशुद्ध और सावधान बुद्धि इतनी तत्परता और सुभिन्नता से हमें प्रदान करती है कि उसके विषय में कोई सन्देह या अनिश्चितता नहीं रह जाती। डेकार्ट का सूत्र "मैं हूँ" अन्तःप्रज्ञा का ही प्रमाण है क्योंकि स्व का ज्ञान इसी के द्वारा होता है।

---

1. दर्शन की मूल धाराएँ—अर्जुन मिश्र, पृ० 324
2. दर्शन शास्त्र का परिचय—पेट्रिक, पृ० 336
3. समकालीन भारतीय दर्शन—लक्ष्मी सक्सेना, पृ० 190

स्पिनोजा के दर्शन में द्रव्य या ईश्वर विशुद्ध ज्ञान है। बौद्धिक ज्ञान में तो हमें केवल सामान्य तत्वों का ही ज्ञान होता है किन्तु अन्त:प्रज्ञा में हमें विशेष विषयों का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होता है। स्पिनोजा के दर्शन में अन्त:प्रज्ञा ज्ञान की चार विशेषताएँ पाई जाती हैं। प्रथम वह ईश्वर के गुणों के सत्य का ज्ञान है। "प्रातिभ ज्ञान (Intuition) के स्तर पर चैतन्य और विस्तार में कोई अन्तर शेष नहीं रहता।[1] द्वितीय प्रातिभ ज्ञान तब उत्पन्न होता है जब कोई वस्तु केवल अपने सत्य रूप में देखी जाती है। तृतीय, जब कोई वस्तु अपने आसन्न कारण के माध्यम से देखी न जाकर अपने आदि कारण (ईश्वर) के द्वारा देखी या समझी जाती है तो प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न होता है चतुर्थ, प्रातिभ ज्ञान बिल्कुल स्पष्ट और सुभिन्न प्रत्यय का प्रतिफल है।"[2]

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष से इसका तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। वह स्वतः बुद्धि से ही उत्पन्न होता है। प्रातिभ अथवा अन्त:प्रज्ञा ज्ञान बुद्धि की ही स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।

लायब्निज की मान्यता है कि "जब विश्लेषण के प्रत्येक स्तर पर ज्ञान के प्रत्येक घटक का स्पष्ट और अभ्रान्त ज्ञान हो उसे प्रातिभ ज्ञान कहते हैं।"

अनुभववादी दार्शनिक लॉक भी अन्त:प्रज्ञा प्रणाली में विश्वास करता है, क्योंकि "प्रतिभान आत्मा की वह शक्ति है जिसके द्वारा वह सत्य का साक्षात्कार करती है।[3] यह एक अन्तदृष्टि है जो किसी अकाट्य सत्य का ज्ञान प्राप्त करती है। स्वतः सिद्ध नियमों के अतिरिक्त अपने अस्तित्व का ज्ञान या अपनी मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान भी प्रातिभ ज्ञान के भीतर लिया जाता है।

डेकार्ट और लॉक के अन्त:प्रज्ञा विचारों में अन्तर यह है कि डेकार्ट विशुद्ध बौद्धिक अन्त:प्रज्ञा (Intellectual Intuition) में विश्वास करते हैं किन्तु लॉक के अन्त:प्रज्ञा में आनुभविक अन्त:प्रज्ञा (Empirical Intuition) भी समाहित हो जाता है।

बर्कले के अनुसार हमें आत्मा का अपरोक्ष (Immediate) और अन्त:प्रज्ञा ज्ञान प्राप्त होता है। डेकार्ट की तरह बर्कले भी अन्त:प्रज्ञा द्वारा आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि डेकार्ट के लिए आत्मा के ज्ञान के किसी बाह्य विज्ञान की आवश्यकता नहीं है पर बर्कले अनुभववादी होने के

---

1. आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास से उद्धृत—जगदीश सहाय श्रीवास्तव, पृ० 62
2. वही, पृ० 153
3. वही, पृ० 188

कारण आत्म ज्ञान और वाह्य विज्ञान के ज्ञान में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हैं)[1]

ब्रैडले बोध और स्वानुभूति में अन्तर करते हैं और यह मानते है कि मानवी बुद्धि सापेक्ष और अन्योन्याश्रित पदार्थों का विवेचन कर सकती है। ब्रैडले को बुद्धि के प्रति एक प्रकार की स्वाभाविक अश्रद्धा सी है।[2]

हेजरी बर्गसां, अन्तःप्रज्ञा के मुख्य समर्थक हैं। बर्गसां का कथन है कि बुद्धि के द्वारा हम प्रवाहशील जगत् का तत्व नहीं समझ सकते। बुद्धि का स्वभाव स्थिर; मूर्त्त वस्तु का विश्लेषण कर उसे खण्ड-खण्डकर समझना है। इसलिये प्रतिक्षण परिवर्तनशील चेतना तत्व को वह समग्र रूप में ग्रहण नहीं कर सकती। उसका ज्ञान बुद्धि (Reason) के द्वारा नहीं, किन्तु अन्तःप्रज्ञा अथवा अनुभूति (Intuition) के द्वारा सम्भव है। प्रत्यक्ष अनुभूति के द्वारा ही हम अपने निरन्तर परिवर्तनशील अन्तःस्थल में प्रवेश करते हैं। जो आन्तरिक तत्व है वही वाह्य तत्व है। अतएव तत्व ज्ञान अनुभूति से ही प्राप्त होता है।

इसी प्रकार बर्गसां की मान्यता है कि अनुभूति द्वारा ही हम प्राण शक्ति (Elan vital) की अजस्र धारा का अनुभव कर सकते हैं। बुद्धि इसे समझ नहीं सकती।

निरन्तरता के ज्ञान पर बर्गसां अपने दर्शन में बल देता है जिससे अन्तःप्रज्ञा की पुष्टि होती है। बर्गसां अपनी पुस्तक 'क्रियटिव इव्हाल्यूशन' में लिखता है, "हमारी बुद्धि इस प्रयोजन से बनी है कि हमारा शरीर अपने पर्यावरण के साथ पूरा-पूरा सामंजस्य बैठा सके, उसका लक्ष्य वाह्य वस्तुओं के आपसी संबंधों का प्रतिनिधित्व करना यानी संक्षेप में पुद्गल का विचार करना है।"[3] "बुद्धि केवल पुद्गल का ही ज्ञान करा सकती है। विश्व के केन्द्र में रहने वाले जीवन या प्राण तत्व का आन्तरिक ज्ञान वह नहीं दे सकती। अन्तःप्रज्ञा को जीवन की पूरी-पूरी चेतना रहती है। अन्तःप्रज्ञा मे मेरा तात्पर्य उस सहज प्रवृत्ति से है जो निष्काम आत्म चेतन तथा अपने विषय का चिन्तन करने और उसे अनिश्चित तरीके से विस्तृत करने में हो जाती है।"[4]

बर्गसां की मान्यता है कि अन्तःप्रज्ञा से प्राप्त ज्ञान समाहारी (Concrete) और पूर्ण होता है। प्रत्याहारी (Abstract) और आंशिक नहीं। वह गतिशील होता है, गतिहीन और निर्जीव नहीं। वह संश्लेषणात्मक होता है, विश्लेषणात्मक नहीं।

1. आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास—ज० स० श्रीवास्तव, पृ० 292
2. बौद्ध दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास चन्द्रधर शर्मा, पृ०
3. Creative Evalution—Bergson, p. 9
4. वही, पृ० 86

वह निरपेक्ष होता है, सापेक्ष नहीं। वह जगत का आन्तरिक ज्ञान देता है। बाहरी झलक नहीं दिखाता।

दर्शन के इतिहास से ज्ञात होता है कि अन्त:प्रज्ञा प्रणाली का समर्थन चार्ल्स पीयर्स और जोशिया रॉयस ने भी किया। वास्तव में "बुद्धि प्रधान मानव व्यक्तित्व में अन्त:प्रज्ञा बुझते हुए चिराग की तरह टिमटिमाती है।"

अन्त:प्रज्ञा और बौद्धिक ज्ञान में भेद

अन्त:प्रज्ञा प्रणाली को क्यों महत्व दिया जाता है, इस संदर्भ में बुद्धि के कुछ दोष गिनाये गये हैं जो निम्न प्रकार से हैं :—

(1) **बौद्धिक ज्ञान प्रत्यात्मक होता है**—प्रत्यय बौद्धिक ज्ञान के सहायक होते हैं, साथ ही वे प्रत्याहृत (Abstract) और आंशिक होते हैं। वे विशेष चीजों की केवल सामान्य बातों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके विशेष गुणों और पहलुओं का उनमें समावेश नहीं होता। प्रत्ययों से विशेष चीजों का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं होता। सम्पूर्ण ज्ञान अन्त:प्रज्ञा से होता है।

(2) **बौद्धिक ज्ञान बंधा हुआ होता है**—चीजें निरन्तर बदलती और बढ़ती रहती हैं। लेकिन प्रत्यय स्थिर एवं परिवर्तनहीन होते हैं। चीजों में परिवर्तन और विकास का जो आवश्यक तत्व होता है, उसका प्रत्ययों के द्वारा प्रतिनिधित्व नहीं होता। प्रत्यय चीजों के शव की तस्वीर खींचते हैं और उन्हें अपरिवर्तनशील पेश करते हैं। इस प्रकार प्रत्ययों का ज्ञान तत्व को मिथ्या कर देता है।

(3) **बौद्धिक ज्ञान विश्लेषणात्मक (Analytical) होता है**—बुद्धि वास्तविकता को अलग-अलग टुकड़ों में बाँट देती है और फिर उन टुकड़ों को संयुक्त करके एक ऐसे सजीव ऐक्य में नहीं बाँध सकती जिसमें वास्तविकता की सभी विशेष बातों का समावेश हो जाए (बुद्धि अंग के अंगों को अलग तो कर सकती है, लेकिन अंगों को मिलाकर अंगी का पुन:निर्माण नहीं कर सकती। वह तोड़ने की शक्ति रखती है, लेकिन बनाने की नहीं। बुद्धि वास्तविकता का खण्डित और विश्लेषणात्मक चित्र खींचती है, वह वास्तविकता को संश्लिष्ट एकता के रूप में नहीं पकड़ सकती)

(4) **बौद्धिक ज्ञान सापेक्ष (Relative) होता है**—वह वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध दिखाता है। चीजों का जो सात्विक रूप होता है उसकी जानकारी बुद्धि से नहीं होती। बौद्धिक ज्ञान एक दूसरी तरह से भी सापेक्ष होता है। वह हमारी रुचि और प्रयोजन से निर्धारित होने के कारण चुनाव पूर्वक होता है। वह एक विशेष दृष्टिकोण से किसी चीज को देखता है। बुद्धि कर्म का साधन है। वह कृति की सेविका होती है। कृति किसी विशेष लक्ष्य या प्रयोजन को लेकर काम करती है। इसलिये बौद्धिक ज्ञान व्यक्तिगत रुचि और प्रयोजन सापेक्ष होता है। अन्त:प्रज्ञा से उत्पन्न ज्ञान इन दोषों से मुक्त होता है। वह वास्तविकता को उसी रूप में पकड़ती

है जो उनका की ज्ञाता रुचि से अलग असली रूप है। अंत:प्रज्ञा वास्तविकता को समग्र रूप में पकड़ती है, उनके भागों के पारस्परिक सम्बन्धों की ओर ध्यान नहीं देती।

(5) **बौद्धिक ज्ञान वाह्य एवं अंत:प्रज्ञा आन्तरिक होता है**—बौद्धिक ज्ञान वस्तुओं की वाहरी झलक दिखाता है। वास्तविक के अन्दरूणी स्वरूप का दर्शन वह नहीं करता। वह चीजों की वाहरी जानकारी कराता है, उनके आन्तरिक स्वरूप के बारे में कुछ नहीं वताता। लेकिन अन्त:प्रज्ञा हमें वास्तविकता के आन्तरिक स्वरूप का ज्ञान कराती है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि दार्शनिक अध्ययन में किसी विशेष प्रणाली को नहीं अपनाया जाता है लेकिन यह जरूरी है कि सत्य, सत्, ज्ञान मूल्य की खोज को सभी प्रणालियों की कसौटी पर कसकर देखना ही एक सही उचित नजरिया हो सकता है।

द्वन्द्वन्याय (Dialectic) प्रणाली

द्वन्द्वन्याय अथवा डायलेक्टिक्स शब्द का उद्‌गम ग्रीक शब्द डॉयलेक्टोस (Dialektos) से हुआ है जिसका अर्थ बातचीत करने से लिया जाता है। दर्शन शास्त्र में इस प्रणाली पर वहुत अधिक महत्व दिया जाता है। इस प्रणाली के आधार पर यह विश्वास किया जाता है कि इस प्रणाली से अन्त: सत्य ज्ञान की उपलब्धि होती है।

द्वन्द्वन्याय क्या है ?

द्वन्द्व न्याय प्रणाली को समझने के पहिले आवश्यक है कि इस शब्द 'द्वन्द्व-न्याय' को समझा जाए। डॉ० अर्जुन मिश्र इस शब्द को इस प्रकार से व्याख्यायित करते हैं:—

"द्वन्द्व न्याय का प्रयोग अंग्रेजी के 'डॉयलेक्टिक्स' शब्द के अर्थ में होता है। प्रारम्भ में 'डायलेक्टिक्स' का प्रयोग केवल डॉयलॉग अर्थात् द्विसंवादात्मक अर्थ में होता था किन्तु आगे चलकर दर्शन में इसका प्रयोग 'वादे-वादे जायते-तत्वबोध' के अर्थ में अधिक होने लगा। कोई व्यक्ति एक बात कहता है, दूसरा उसका विरोध करता है, फिर दोनों की परस्पर विरोधी बातों में से एक तीसरी बात का निर्णय होता है। इस प्रकार जहाँ परस्पर विरोधी विचारों से तीसरे विचार अथवा निर्णय पर पहुँचते हैं। उसे 'डायलेक्टिक्स 'अथवा' द्वंद्वन्याय' कहा जा सकता है।[1]

नन्दकिशोर देवराज के मतानुसार द्वंद्ववाद (Dialecticism) अग्रांकित रूप से है :—

1. दर्शन की मूल धाराएँ—अर्जुन मिश्र, पृ० 112

"वास्तव में 'द्वंद्ववाद' उन सामान्य नियमों का विज्ञान है जो वाह्य जगत् और चिन्तन जगत् दोनों की गति को निर्धारित करते हैं। ये नियम तीन हैं—(1) द्वंद्वात्मक प्रगति का पहला नियम है, मात्रा भेद से गुण-भेद की उत्पत्ति। जब मात्रागत परिवर्तन एक विशेष दर्जे पर पहुँच जाते हैं तब यकायक गुणात्मक भेद आर्विभूत हो जाता है। (2) दूसरा नियम 'विरुद्धों का समवाय' अथवा सप्तावस्थित (Interpretation of opposite) है। सब वस्तुओं में अंतर्विरोध रहते हैं। उनके ऋणात्मक और धनात्मक पक्ष रहते हैं। वस्तुएँ स्वभावतः विरोधग्रस्त हैं। यह सहावस्थान संघर्ष को जन्म देता है। विरोधों की एकता आपेक्षित है और उनका संघर्ष निरपेक्ष। इसलिए मार्क्सवाद सुधार नीति का विरोध कर क्रांति का पक्ष लेता है। (3) द्वंद्वात्मक विवर्त्तन का तीसरा नियम निषेध अथवा विपरिणाम का विपरिणाम (Negation of Negation) है। यहाँ भी निषेध का अर्थ स्वीकृति या विनाश नहीं है।"[1]

मार्क्स कहते हैं कि "द्वंद्ववाद आन्तरिक सहज प्रकाश, प्रेम की मर्मभेदी दृष्टि, आन्तरिक आत्मा, जो भौतिक दैहिक विभाजन से दमित नहीं होती, आत्मा का आन्तरिक निवास स्थान है।"[2]

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में द्वंद्व न्याय का आरम्भ सोफिस्टो से देखा जा सकता है। सोफिस्टो के लिए वाद, विवाद (Disputes) को सुलझाने में द्वंद्वन्याय एक अस्त्र की तरह है। द्वंद्वन्याय निम्न प्रकार (Type) आलोचना के नाम से भी पुकारा जा सकता है।

प्लेटो के दर्शन में द्वंद्वन्याय 'विज्ञान का सिद्धान्त' (Theory of Ideas) में परिवर्तित हो जाता है। प्लेटो के लिए "द्वंद्वन्याय का अर्थ विधि पूर्वक वैज्ञानिक अन्वेषण, प्रश्न और उत्तर के रूप में है, किन्तु वह तर्क से भिन्न है।"[3] वाद में स्टोइक तर्कशास्त्रियों द्वारा आकारिक तर्क शास्त्र (Formal logic) को द्वंद्वन्याय कहा जाने लगा। काण्ट के दर्शन में द्वंद्वन्याय ने परीक्षावाद का रूप धारण किया। हीगेल के लिए द्वंद्वन्याय विचार-विकास और सत्ता के लिये एक प्रक्रिया के रूप में मानव के सम्मुख आया, जिसमें हीगल ने वाद (Thesis), प्रतिवाद (antithesis) और संवाद (Synthesis) का सहारा लेकर द्वंद्वन्याय की प्रक्रिया को उद्‌घाटित किया। मार्क्स ने द्वंद्वन्याय को समाज में घटने वाली घटनाओं के होने और परि-

---

1. पूर्वी और पश्चिमी दर्शन—डॉ० देवराज, पृ० 96
2. द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और दर्शन का इतिहास—थियोदोर आइजेर्मान, पृ० 332
3. Studies in Philosophical methods—Chhaya Rai, p. 21

वर्तन को कानून (Law) के रूप में स्वीकार किया।[1] ब्रैडले ने हीगल के द्वंद्वन्याय में प्रयुक्त तीन के योग (Triad) की आलोचना की और कहा कि द्वंद्वन्याय विरोधों की तादात्म्यता नहीं है।[2]

वास्तव में द्वंद्वन्याय विरोध और विरोधाभास (Contradiction) के बिना सम्भव नहीं है।

द्वन्द्वन्याय प्रणाली की विशेषताएँ

द्वंद्वन्याय प्रणाली की विशेषताएँ इस प्रकार हैं :—

(1) **प्रश्न और उत्तर का रूप**—द्वंद्वन्याय प्रणाली में एक व्यक्ति प्रश्न करता है और दूसरा व्यक्ति उसका उत्तर देता है। द्वंद्वन्याय वाद-विवाद का एक रूप है। प्राचीन काल में इसका यही रूप था। सुकरात ने इसी प्रणाली का उपयोग किया था। सुकरात का कथन है कि "ज्ञान मन के अन्दर प्राप्त करना चाहिए और प्रश्न प्रक्रिया के माध्यम से उसे जन्म देना चाहिये।[3] अरस्तू ने प्लेटो के द्वंद्वन्याय को विवादपूर्ण (Argumentative) प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया।

द्वंद्वन्याय में यह अर्थ निहित है कि 'जिनका सम्बन्ध विचार से हो।'

म्युलर ने द्वंद्वन्याय की प्रकृति के बारे में कहा है कि "द्वंद्वन्याय का अर्थ सत्ता का विरोधमय आयाम और वह बातचीत में एक हो जाता है।"[4]

(2) **व्याघात (Contradiction), प्रतिमुखता (Opposition) अथवा विप्रतिषेध (Antinomies)**—व्याघात का नियम और प्रतिमुखता का नियम द्वंद्वन्याय की मुख्य विशेषता है। द्वंद्वन्याय का प्रथम नियम हम हेराक्लिटिस के दर्शन में पाते हैं। हेराक्लिटिस के बाद विशेष रूप से काण्ट का नाम लिया जाता है जिन्होंने विप्रतिषेध के सिद्धान्त (Antinomies) पर अधिक बल दिया है।

(3) **आप्त वचन का विरोध**—द्वंद्वन्याय की तीसरी विशेषता यह है कि वह किसी प्रकार के आप्त वचन (Authority) में विश्वास नहीं करता।

---

1. "Marx views dialectic as the law of becoming and change according to which social events take place". p. 21
2. "Bradley criticizes the Hegelian concept of dialectical triad and says that dialectic does not necessarily involve the identity of oppsites." Ibid p. 21
3. "Knowledge is to sought within the mind and brought to birth by a process of questioning." Ibid p. 24
4. "Dialectic means that opposites diamensions of reality are united in discourse"—Dialectic. p. 51

(4) **सहमति और सुस्पष्टता**—द्वंद्वन्याय की चौथी विशेषता यह है कि इसका ध्येय अथवा उद्देश्य सुस्पष्टता और सहमति है जो किसी भी दार्शनिक प्रणाली के लिए आवश्यक है।

कान्ट ने विप्रतिषेध की चर्चा "प्रतिगोचर द्वंद्वन्याय (Transcendental dialectic) के रूप में की है। उसके अनुसार विप्रतिषेध दो प्रकार के हैं जिन्हें वे गणितज्ञ विप्रतिषेध और गतिशील विप्रतिषेध कहते हैं। गणितज्ञ विप्रतिषेध में वाद और प्रतिवाद दोनों गलत होते हैं जबकि गतिशील विप्रतिषेध में दोनों सही होते हैं।[1] कान्ट ने विप्रतिषेध और द्वंद्वन्याय को एक ही अर्थ में स्वीकार किया है।

शैलिंग के अनुसार प्रकृति में हर वस्तु अपने विरोध को ढूंढ़ती है और उससे परे जाती है।[2] उसके अनुसार निरपेक्ष स्वायत्तता सही दार्शनिक प्रणाली की गुण-परक विशिष्टता है।[3]

हीगल आज के युग का सबसे महान द्वंद्वन्याय का समर्थक है। वह इस बात पर बल देता है कि द्वंद्वन्याय उसके विरोधों के साथ आकस्मिक (Accidental) और आत्मगत नहीं है। उसके लिए विरोध द्वंद्वन्याय में आवश्यक अंग है। हीगल स्वयं कहता है कि 'विरोध' सभी जीवन व्यापार की जड़ें हैं।[4]

समकालीन पाश्चात्य दर्शन में ए० ई० टेलर, क्रोचे और जोशिया रॉयस आदर्शवादी दार्शनिक हैं जो द्वंद्वन्याय में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार सत्य, द्वंद्व-न्याय ही है।

---

1. "According to him there are mainly two types of antinomies viz mathematical antinomies and dynamic antinomies. In mathematical antinomics the contradictory claims or thesis and antithesis are both false, while in the latter they can both be true".—Studies in Philosophical methods—Dr. Chhaya Rai, p. 128
2. Schelling insists that everything in nature seeks its own "opposite and thus transcends its own isolated being".—Ibid, p. 29
3. द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और दर्शन का इतिहास—थिओदोर आइजेर्मान, पृ० 107
4. "Hegel himself speaks of contradiction" as "the root of all movements and life".—Studies in Philosophical methods—Dr. Chhaya Rai, p. 30

द्वंद्वन्याय की उपयोगिता

द्वंद्वन्याय की उपयोगिता तीन प्रकार से बताई जाती है :—

(1) यह हमारे मानसिक प्रशिक्षण के लिए लाभदायक है।

(2) इसकी उपयोगिता दूसरों के साथ वातचीत करने में है।

(3) इसकी उपयोगिता विज्ञान के असिद्ध नियमों की परीक्षा करने में है।

मुख्य द्वंद्वन्यायवादी और द्वंद्वन्याय

ग्रीक काल के दार्शनिक जेनो को द्वंद्वन्याय को ढूंढने वाला प्रथम व्यक्ति माना जाता है।[1] जिसने गति के विरुद्ध अपना मत प्रकट किया।

उसी काल के दार्शनिकों में सोफिस्ट भी आते हैं। सोफिस्टो के लिए बोलने की कला ही वह माध्यम था जो कि अधिक अभ्यास से सम्बन्धित थी। तत्पश्चात् प्रोटोगोरस और जार्जियस का नाम लिया जाता है। जिन्होंने द्वंद्वन्याय प्रणाली को राजनीति और नैतिक क्षेत्रों में लागू किया। किन्तु वास्तविक रूप से सुकरात को ही द्वंद्वन्याय का अन्वेषक होने का श्रेय दिया जाता है, जिसने वातचीत के तरीके को अधिक महत्व दिया। स्टेस महोदय सुकरात और सोफिस्टो में भेद करते हुए लिखते हैं कि "सुकरात ने सोफिस्टो की तरह बड़े-बड़े भाषण नहीं दिये, उसने वातचीत को ही सर्वोपरि नहीं माना।[2] उसने प्रत्ययात्मक अथवा अवधारणात्मक और परिभाषात्मक (Conceptual or definitional) को ही अपना लक्ष्य बनाया।

दूसरी विशेषता जो सुकरात के द्वंद्वन्याय में है वह व्यंगयोक्ति (Irony) है। थिली उसे 'संशयवादी प्रकृति' कहता है। सुकरात का यह प्रत्यय सोफिस्टो के संशयवाद से भिन्न है। सोफिस्टो का संशय निश्चित (Definitvie) और अन्तिम था जबकि सुकरात का संशयवाद प्रयोगात्मक (Tentative) और अस्थायी (Provisional) था। साथ ही यह भी मान्यता है कि सुकरात का द्वंद्वन्याय आगमनात्मक (Deductive) और निगमनात्मक (Inductvie) दोनों हैं।

तीसरी विशेषता यह है कि सुकरात का द्वंद्वन्याय परीक्षात्मकता (Criticism) से ओत-प्रोत है। हीगल ने सुकरात के द्वंद्वन्याय की यह कह कर आलोचना की है कि वह बहुत ही कठिन (Difficult) और परिश्रम-साध्य (Tedious) है।

ग्रीक दर्शन के महान दार्शनिक प्लेटो ने भी द्वंद्वन्याय का सर्वप्रथम सहारा उसके ग्रंथ मेनो में लिया है। उसका दृष्टिकोण सुकरात जैसा ही है। किन्तु वह हर क्षण प्रत्येक वस्तु के अन्दर अपरिवर्तन सार खोज में है और वह द्वंद्वन्याय को

---

1. दार्शनिक त्रैमासिक, अक्टूबर 2, 1968, अंक 4

2. A critical history of Greek Philosophy—W.T. Stace, p. 128

दर्शन में एक यांत्रिक पक्ष बना देता है। प्लेटो की मान्यता यह है कि द्वंद्वन्याय खोज की एवं शिक्षण की सर्वोपरि प्रणाली है। उसके दर्शन में द्वंद्वन्याय जो दार्शनिक प्रणाली के रूप में है, उसे वह दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में बदल देता अर्थात्, विज्ञान के रूप में। इस प्रकार उसका सिद्धान्त तत्व शास्त्र में विलीन हो जाता है।

अरस्तु

अरस्तु द्वंद्वन्याय का प्रवर्तक तो नहीं किन्तु उसका व्याख्याकार (Exponent) था। द्वंद्वन्यय्याय उसके लिए आदरणीय क्रिया थी और इस कारण उसने द्वंद्वन्याय को तार्किक भूमि प्रदान की। उसने विज्ञ के विरोध में द्वंद्वन्याय का उपयोग किया। उसका द्वंद्वन्याय तर्क के सार्वभौमिक (Universal) नियमों से संबंध रखता है। उसके लिए तर्क के दो उपयोग हैं—(1) द्वंद्वन्याय और निर्णायक (Demonstrative) वह द्वंद्वन्याय को दूसरे स्तर का महत्व, विच के प्रति उसके दृष्टिकोण के कारण देता है।[1]

अरस्तु द्वंद्वन्याय को 'नकारात्मक आलोचना' (Negative criticism) के रूप में लेता हैं, न कि एक' सकारात्मक परिणाम को स्थापित करने के संदर्भ में एक प्रणाली के रूप में। उसने स्वयं कहा है कि द्वंद्वन्याय विज्ञ की प्रणाली नहीं है।"

कांट

कांट द्वंद्वन्याय के वारे में अपनी पुस्तक 'शुद्ध बुद्धि की मीमांसा' में व्यापक रूप से वर्णन करता है और उसे विश्लेषण (Analytic) सम्बन्धी और प्रतिगोचर द्वंद्वन्याय (Transcendental dialectic) के रूप में देखता है। द्वंद्वन्याय के द्वारा वह भ्रांतियों को दूर करता है। जी० मार्टिन उसकी पुस्तक 'जनरल मेटाफिजिक्स, इट्स प्राब्लेम्वस एन्ड इट्स मेथड' में लिखता है कि "शुद्ध बुद्धि मीमांसा में उसका एक महत्वपूर्ण उद्देश्य गलतियों को उद्घाटित करना है।"[2] वास्तविकता में कांट की प्रणाली को केवल आलोचना नहीं कह सकते किन्तु उसकी प्रणाली, सोचने का एक तरीका अथवा अन्वेषण (Inquiry) का मार्ग है।

कांट ने स्पिनोजा की स्वयं सिद्धियों की पद्धति के मुकावले में अपनी पद्धति

1. "He gave secondary importance to Dialectic due to his view concerning the nature of thought". Studies in Philosophical methods—Dr. Chhaya Rai p. 53
2. "In the critique of Pure reason one of its most essential goal is the uncovering of errors"—General Metaphysics, its Problems and its Methods p. 303.

को रखा स्वयं सिद्धियाँ और शब्द गणितीय अर्थ में परिभाषाएँ दर्शन में असम्भव हैं।[1]

द्वंद्वन्याय के द्वारा ही कांट व्यावहारिक तर्क और समझ (Understanding) में भेद करता है। उसकी दृष्टि में ईश्वर की सत्ता, जीव की अमरता और इच्छा की स्वतंत्रता तीन द्वंद्वन्याय विचार हैं जिन्हें सिद्ध अथवा असिद्ध करना बहुत मुश्किल है किन्तु *प्रतिमुखता (Antinomics)*, विश्वास के द्वार को खोलती है ताकि मनुष्य मानव-धर्म और अमरता में प्रवेश कर सके। कांट का प्रागनुभविक दृष्टिकोण प्रवर्गों की इस द्वंद्ववाद विरोधी, आकार मूलक-धारणा का एक अनिवार्य तर्कसंगत निष्कर्ष था।

हीगल

हीगल का सुप्रसिद्ध सूत्र "हर वास्तविक चीज बुद्धि संगत है और हर बुद्धि संगत चीज वास्तविक है।" उसके अनुसार निरपेक्ष सत् के भीतर एकता और अनेकता दोनों का समन्वय पाया जाता है। विशुद्ध एकता और विशुद्ध अनेकता के प्रत्यय काल्पनिक हैं। भेद और अभेद परस्पर विरुद्ध होते हुए भी एक दूसरे के भीतर सन्निहित है। हीगल का द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद दर्शन के इतिहास का एक प्रतिभाशाली सिद्धान्त है। उन्होंने दर्शन की व्याख्या भौतिकवाद के निषेध के रूप में की। हीगल की द्वंद्वात्मक प्रणाली का प्राण प्रतिपक्षों का तादात्म्य है। यहाँ 'तादात्म्य शब्द का अर्थ विशुद्ध तादात्म्य नहीं है यहाँ तादात्म्यता का अर्थ भेद में अभेद से है और अभेद पर भेद आधारित है।

समन्वय (Synthesis) में पक्ष और प्रतिपक्ष का विरोध शान्त हो जाता है। इसलिये समन्वय या संपक्ष को 'निषेध का निषेध' कहते हैं। यह प्रक्रिया तब तक चलती है जब तक कि हम निरपेक्ष तत्व (Absolute reality) को प्राप्त नहीं कर लेते। हीगल ने स्वयं कहा है, "अतः कोई चीज केवल तभी जीवंत है, जब उसमें अन्तर्विरोध निहित हो और वस्तुतः यही वह शक्ति है, जो इस अंतर्विरोध को धारण और सहन करने में समर्थ होती है।"

एक प्रश्न है कि द्वंद्वात्मक संभवन के पीछे प्रवर्तक शक्ति कौन सी है? हीगल का उत्तर है कि यह शक्ति निरपेक्ष चेतना तत्व है जो तीनों वाद, विवाद और संवाद का अधिष्ठाता है।

हीगल और कांट

हीगल और कांट में एक भेद है। यह कि कांट किसी पक्ष (Thesis) की बात नहीं सोच सका जबकि हीगल परिकल्पना के आधार पर आगे बढ़ता है और द्वंद्वन्याय के विकास के सहारे संश्लेषण (Synthesis) तक पहुँचता है। इस प्रकार से

---

1. द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और दर्शन का इतिहास—थिओदर आईज़ेमान, पृ० 106

हीगल द्वंद्वन्याय को एक नवीन मोड़ देता है जिसको वह प्रक्रिया कहता है, तर्कणा (Reasoning) नहीं। हीगल का द्वंद्वन्याय तार्किक और अस्थायी द्वंद्वन्याय है। उसके द्वंद्वन्याय का दूसरा तथ्य यह है कि त्रिवर्ग (Triad) का प्रथम वर्ग सदैव सकारात्मक है, दूसरा वर्ग सदैव प्रथम का नकारात्मक है। यह दूसरा वर्ग प्रथम में ही निहित है और प्रथम वर्ग ही अपने आप में से उसे जन्म देता है। हीगल का कथन है कि हमारा कार्य किसी प्रणाली का आविष्कार करना नहीं है किन्तु पुनः खोज करना है।[1] हीगल की इस द्वंद्वन्याय प्रणाली का विरोध अस्तित्ववादी कीर्केगार्द ने किया है। वह इस तथ्य को बताता है कि हीगल के द्वंद्वन्याय में मानव और उसके अस्तित्व के लिए कोई गुंजाइश नहीं है।[2]

मार्क्स

मार्क्स के द्वंद्वन्याय का आरम्भ इसी कारण हुआ कि उसे हीगल के सिद्धान्त में अपर्याप्तता दिखाई दी। थियोदोर ने लिखा है कि हीगल के सिद्धान्त की अपर्याप्तता यानी उनके द्वंद्ववाद के प्रत्ययवादी स्वरूप को मार्क्स ने 1843 में लिखित अपनी कृति 'हीगल के कानून के दर्शन की आलोचना' में प्रकट किया है। इसमें मार्क्स स्पष्ट करते हैं कि प्रत्ययवाद द्वंद्ववाद को तोड़ता-मरोड़ता है, क्योंकि यह विलोमों के सम्बन्ध को केवल चिंतन में अस्तित्व रखने वाले सम्बन्ध के रूप में देखता है।[3] वैसे कार्ल मार्क्स के जीवन पर हीगल और फायर बाख का प्रभाव था। उसने हीगल की द्वंद्वात्मक प्रणाली (Dialectical method) को संशोधन के साथ अपनाया था। दोनों में इस कारण एक बड़ा अन्तर आ गया। हीगल आत्मवादी (Idealist) दार्शनिक के रूप में और कार्ल मार्क्स अनात्मवादी के रूप में प्रसिद्ध हुए। मार्क्स ने हीगल के दर्शन के सम्बन्ध में कहा भी है कि "मैंने हीगल के दर्शन को सिर के बल खड़े पाया और मैंने उसे पैरों के बल खड़ा कर दिया।"[4]

---

1. Hegel tells that our task is not to invent a method, by which we can deduce categories, but to discover the method by which the categories deduce themselves "Studies in Philosophical Methods—Dr. Chhaya Rai, p. 62
2. Hegels dialectical system was devied by Soren kierkeggard. He insisted that Hegelian dialectic has no room for the category of the human individual or human existance".—Ibid, p. 65
3. द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और दर्शन का इतिहास—थियोदोर, पृ० 332
4. "I found that the Hegelian dialectic standing on its head, I put it on its foot"—Karl Marx

मार्क्स और एंगेल्स ने द्वंद्वात्मक दार्शनिक प्रणाली का निर्माण, हीगल के विज्ञानवादी द्वंद्वात्मक प्रणाली को अस्वीकृत कर, किया है। सोवियत दार्शनिक फ० व० कोस्तातीनोव ने ठीक ही कहा है कि, "उनका सिद्धान्त उन दार्शनिक तथा समाज वैज्ञानिक प्रणालियों से असीम रूप से दूर है, जो अन्तिम और निरपेक्ष सत्यों की प्रणालियों के रूप में निर्मित की गई थी यानि जिन्होंने सभी प्रश्नों को अन्तिम रूप से हल कर देने का दावा किया, चाहे इसके लिए आवश्यक तथ्य हो या न हो।"[1] मार्क्स ने सामाजिक घटनाओं को द्वंद्वात्मक न्याय की दृष्टि से देखा किन्तु प्रत्ययवाद के स्थान पर भौतिकवाद को आधार बनाया। यद्यपि मार्क्स के अनुसार हीगल की तरह ही तीन वर्ग हैं किन्तु इन तीन वर्गों को वह अलग नाम देता है।

(1) पक्ष—भौतिक द्रव्य है।

(2) प्रतिपक्ष—जीव भौतिक द्रव्य नहीं, प्रत्युत उससे भिन्न चेतन तत्व है।

(3) संपक्ष—जीवन न भौतिक द्रव्य है और न उससे भिन्न चेतन तत्व है, किन्तु वह भौतिक द्रव्य के गुणात्मक परिवर्तन से उत्पन्न एक नवीन तत्व है।

उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि हाइड्रोजन के प्राणपीड़क तथा आक्सीजन के प्राणदायक तत्वों से जल का निर्माण होता है। इस तरह भौतिक द्रव्य में परिवर्तनशील, विकासोन्मुख और नित्य नवीन होने वाली घटना का प्रवाह है। इस कारण मार्क्स इस द्वंद्वात्मक भौतिकवादी प्रणाली के माध्यम से मनुष्य के शोषण को हमेशा के लिए समाप्त करने वाले महान् मुक्ति आन्दोलन का अभिन्न अंग और सैद्धान्तिक अस्त्र मानते हुए विश्व में द्वंद्वात्मकता को 'निषेध का निषेध' की शब्दावली में व्यक्त करते हैं। पूंजीपतियों की पूंजी का श्रमिक निषेध करता है तो वह पूंजी न कहीं चली जाती है और न नष्ट होती है। किन्तु वह श्रमिक और पूंजीपतियों की सम्मिलित पूंजी हो जाती है। दोनों ही उसमें समान अधिकार रखते हैं और दोनों ही मिलकर उसका उपभोग करते हैं। इस सिद्धान्त के आधार पर मार्क्स श्रमिक और पूंजीपति के भेद को समाप्त करता है। संक्षेप में हम यही कहेंगे कि मार्क्स का द्वंद्वात्मक भौतिकवाद प्रगति का वह नियम है जो भौतिक जगत और सामाजिक जगत, जड़ विश्व के विकास तथा मानव इतिहास की गति को निर्धारित करते हैं।[2] दूसरी ओर 'द्वंद्वात्मक-भौतिकवाद की समीक्षा में डॉ० धीरेन्द्र मोहन दत्त ने लिखा है कि "मार्क्स हीगल को सीधा करने में स्वयं उलट गये।"[3] इसे 2०

1. द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और दर्शन का इतिहास—थियोदोर, पृ०116
2. दर्शन की मूल धाराएँ—अर्जुन मिश्र, पृ० 119
3. "In attempting to turn Hegel upside down Marx goes down side up Both are involved in a common Crash"—Contemporary Philosophy—D.M. Datta, p. 505

सदी के अंतिम दो दशक में पूर्वी योरप में तथा रूस में जिस तरह नये राजनैतिक समीकरण दिखाई दे रहे हैं उससे भी मार्क्स के इस दर्शन की नयी तरह की समीक्षा की आवश्यकता है।

विश्लेषणात्मक प्रणाली

"प्रत्येक शास्त्र का अपना एक आन्तरिक विधान होता है। इस विधान की रचना उस शास्त्र के प्राथमिक संप्रत्ययों और अभ्युपगमों (Hypothesis) अथवा स्वयं सिद्धियों द्वारा होती है। किसी भी शास्त्र द्वारा स्वीकृत अभ्युपगमों या स्वयं सिद्धियों को उस शास्त्र में सन्देहातीत माना जाता है शास्त्र में प्रयुक्त प्राथमिक संप्रत्ययों को स्पष्ट करने के लिए दर्शन उसकी परिभाषा करता है। शास्त्र में व्यवहृत अभ्युपगमों को अनावृत कर उनकी समीक्षा करता है तथा तर्क की कसौटी पर कसकर उनके औचित्य अथवा अनौचित्य को निर्धारित करने का प्रयास करता है।" "दर्शन की यह आलोचनात्मक प्रक्रिया विश्लेषण प्रणाली का उपयोग करती है। इसका मुख्य प्रयोजन लौकिक और वैज्ञानिक संप्रत्ययों का स्पष्टीकरण करना है।"[1] ऐसा डॉ० अर्जुन मिश्र का कथन है, किन्तु प्रश्न है कि विश्लेषण क्या है?

मूर के अनुसार विश्लेषण का अभिप्राय धारणा विश्लेषण अर्थात् शब्दों का अर्थ नहीं वरन् धारणाओं का विश्लेषण है। वह भाषा विश्लेषण के पक्ष में नहीं वरन् दार्शनिक विश्लेपण के पक्ष में है। मूर ने सामान्य बोध की बात कही है पर वह हमें ठीक से नहीं समझा सका कि विश्लेषण क्या है।[2]

वर्तमान शताब्दी में विश्लेषणात्मक दर्शन अथवा भाषा विश्लेषण सम्बन्धी विचारधारा का पाश्चात्य दर्शन में बहुत महत्व है। इस विचारधारा का प्रारम्भ बर्ट्रेंड रसेल, जी० ई० मूर, विटगिन्स्टाइन मारिट्ज श्लिक, ए० जे० एयर, रूडोल्फ कार्नेप आदि बहुत से दार्शनिकों के प्रयास से हो सका है।

विश्लेषण (Analysis) क्या है?

पी० सी० चटर्जी ने अपनी पुस्तक 'An Introduction to Philosophical analysis' के द्वितीय अध्याय में विस्तारपूर्वक बताया है कि विश्लेषण क्या है? विश्लेषण का लक्ष्य दो प्रकार का है—(1) कि हमें अभ्युपगमों (Principles) और स्वयंसिद्धियाँ (Postulates) का संक्षिप्त (Precise) और स्पष्ट (Clear) विचार

---

1. दर्शन की मूल धाराएँ—अर्जुन मिश्र, पृ० 37
2. समसामायिक वस्तुवाद—बेंजामीन खान, पृ० 147-48

दे। (2) कि क्या कोई उचित कारण है कि हम उन्हें स्वीकार करें।[1]

विजडम की मान्यता यह है कि "परीक्षात्मक (Critical) दर्शन का उद्देश्य ही यह है कि हम स्पष्टता का अन्वेषण करें, सत्यता का नहीं।" किन्तु यह उनका गलत विचार है।

विश्लेपण उतना ही प्राचीन है जितना कि दर्शन स्वयं में और इस विश्लेपण विधि को लोग अपनी दैनदिनी वार्तालाप में प्रयोग करते हैं जिन्हें दर्शन का कोई ज्ञान नहीं है। उदाहरणार्थ देखें कि कुछ लोग कमरे में बैठे वातचीत कर रहे हैं कि क्या कन्फूयशस एक धार्मिक व्यक्ति था। एक व्यक्ति पक्ष में कहता है कि 'वह था' दूसरा विरोध में कहता है 'नहीं था' तव एक तीसरा व्यक्ति कहता है 'नहीं था' पहिला और दूसरा पूछता है कैसे ? तव तीसरा उत्तर देता है कि वह ईश्वर में विश्वास नहीं करता था, किन्तु केवल नैतिकता में विश्वास करता था और जो व्यक्ति ईश्वर और नैतिकता में विश्वास करता था और जो व्यक्ति ईश्वर और नैतिकता दोनों में विश्वास करता है उसे ही धार्मिक व्यक्ति कहा जा सकता है।[2]

प्रश्न यह है कि हम किसका विश्लेपण करते हैं ? जिसका विश्लेपण किया जाता है उसे (Analysoudum) कहेंगे और जो विश्लेपित होता है उसे (Analysans) कहेंगे।

कुछ दार्शनिकों का कहना है कि वाक्य का विश्लेपण किया जाता है। किन्तु यह दृष्टि गलत है। यह कहना सत्य के अधिक करीव होना होगा कि वाक्य के अर्थ का विश्लेपण किया जाता है। यह कहना वहुत ही कठिन है कि वाक्य (Sentence) और तर्क वाक्य (Proposition) में वड़ा अन्तर है। परन्तु वाक्य और तर्क वाक्य के भेद सुगमता से वताये जा सकते हैं। यहाँ तक कि संकेतों के आधार पर भी वताये जा सकते हैं।

दैनंदिनी भाषा में हम कह सकते हैं कि विश्लेपण प्रत्यय (Concept) का विश्लेपीकरण है वनिस्वत की एक तर्क वाक्य (Proposition) का।

---

1. The object of this examination is two fold.
   (a) To give us a more precise and clear idea of what these postulates and assumptions are, and
   (b) To enquire whether we have any good reasons for accepting them".

   An Introduction to Philosophical analysis—P.C. Chatterji, p. 7
2. Ibid.

विश्लेषण का कार्य

विश्लेषण का कार्य उन साधारण प्रत्ययों को समझना है जो उसमें निहित है।[1] अरस्तू के अनुसार "विश्लेषण अथवा परिभाषा का अर्थ विश्लेषित पद की सर्वोच्च जाति (Sammum Genus) और व्यावर्त्तक गुण (Differentia) को बताना है।

विश्लेषण की ऐतिहासिक भूमिका

सुकरात के पूर्व इलिया के जेनो में विश्लेषण के अंकुर देखे जा सकते हैं। उसके बाद सुकरात ने विश्लेषण प्रणाली का उपयोग किया। सुकरात को आधुनिक विश्लेषण का संरक्षण सन्त (Patron Saint) कह सकते हैं।[2] हम किसी भी पक्ष (Term) अथवा प्रत्यय (Concept) की व्याख्या बिना विश्लेषण के नहीं कर सकते।

आधुनिक दर्शन के महान दार्शनिक लाइबनिज का कथन है कि विश्लेषण निर्णय की कला है।

ह्यूम के दर्शन में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पाते हैं जिसके ऋणी तार्किक भाववादी (Logical Positivists) हैं। समस्त अनुभववादी जैसे लॉक, बर्कले, ह्यूम मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के समर्थक हैं। हॉब्स, बेन्थन और मिल भी विश्लेषण के कार्य में लगे हुए थे।

काण्ट ने शुद्धता से तार्किक अथवा आकारिक विश्लेषण का समर्थन किया।

समकालीन दर्शन में विश्लेषण प्रणाली रसेल के दर्शन में प्रस्फुटित हुई। उसका 'वर्णन का सिद्धान्त' विश्लेषण का एक उत्तम उदाहरण है। अन्य कैम्ब्रिज विश्लेषणवादियों में मूर, ब्रॉड और स्टेबिग के नाम लिये जाते हैं। मूर की मान्यता यही थी कि दार्शनिक का कार्य 'सत्य की खोज' के बनिस्बत समझना है।

विश्लेषण के प्रकार (Forms of Analysis)

विश्लेषण पद (Term) बीस से अधिक अर्थ में विवेचित हुआ है और इस कारण इस प्रणाली के विकास में इसका बहुत अधिक महत्व है। विश्लेषण के प्रकार इस प्रकार बताये गये हैं :—

(1) **भौतिक अथवा प्रायोगिक विश्लेषण**—विश्लेषण की यह विधि अथवा

---

1. The function of analysis is to determine the simpler concepts which are involved in it.—An Introduction to Philosophical analysis—P.C. Chatterji, p. 9
2. According to Aristotle, analysis or definition means giving the genus and defferencia of the term defined—Ibid, p. 9.

प्रणाली वैज्ञानिकों द्वारा अपनायी जाती है। जब एटम का विश्लेपण इलेक्ट्रोन, प्रोटोन और न्यूट्रोन में किया गया तब इसे भौतिक विश्लेपण कहा गया। उसी प्रकार 'देश' और 'काल' का विश्लेपण 'विन्दु' (Points) और क्षण (Instants) के रूप में किया जाता है। भौतिक विश्लेपण का तादात्म्य प्रायोगिक विश्लेपण के साथ किया जाता है।

आकारिक और भौतिक विश्लेपण में भेद हैं। आकारिक विश्लेपण में मानसिक क्रिया की प्रधानता होती है जबकि भौतिक विश्लेपण में वास्तविक (Actual) क्रिया की प्रधानता पाई जाती है।

(2) **वैज्ञानिक विश्लेपण** (Scientific analysis)—वैज्ञानिक विश्लेपण दार्शनिक विश्लेपण से भिन्न प्रकार का है। दोनों में मूल अन्तर यह है कि वैज्ञानिक विश्लेपण यह बताता है कि एक विशेष वस्तु प्रकृति के अन्य वस्तुओं से कैसे सम्बन्धित है। एक वस्तु का विश्लेपण अनेक वैज्ञानिकों का अलग-अलग परिणाम के रूप में पृथक् सिद्धान्तों के रूप से में रखा जाता है। कालिदास भट्टाचार्य मानते हैं कि वैज्ञानिक विश्लेपण आनुभाविक होता है।[1]

(3) **गणित सम्बन्धी विश्लेपण** (Mathematical analysis)—गणित सम्बन्धी विश्लेपण प्राय: स्वयं सिद्ध-विश्लेपण (Postulational analysis) के रूप में स्वीकार किया जाता है।

(4) **तत्व मीमांसा विश्लेपण** (Metaphysical analysis)—एल० सुसेन स्टेविंग के अनुसार तत्व-मीमांसा विश्लेपण में दो स्वयं सिद्धियों के आधार पर विचार किया जाता है।

(5) **परिकल्पनात्मक अथवा विमर्शात्मक विश्लेपण** (Speculative or Reflective analysis)—प्राय: दार्शनिक विश्लेपण को परिकल्पनात्मक विश्लेपण के रूप में वर्गीकरण किया जाता है। जोकिम का कथन है कि परिकल्पनात्मक खोज विमर्शात्मक और परीक्षात्मक है, उसके मतासार "केवल विमर्शात्मक और परीक्षात्मक विश्लेपण ही रहस्य को खोल सकता है अथवा बता सकते हैं कि वह वास्तव में हैं।"[2]

(6) **मनोवैज्ञानिक विश्लेपण** (Psychologiqal analysis)—बहुधा तार्किक विश्लेपण को मनोवैज्ञानिक विश्लेपण से गड़बड़ा दिया जाता है, मनोवैज्ञानिक

1. Philosophy. logic and language,—K. Bhattacharya p. 14
2. In his opinion "nothing but reflective and critical analysis can unlock the secrets of being or can reveal it as it really is." Logical studies—H.H. Joachim, p. 11

विश्लेषण का संबंध मनोवैज्ञानिक प्रश्नों से होता है जैसे जानने की क्रिया। अन्य तरीके से हम कह सकते हैं कि तार्किक विश्लेषण 'ज्ञान' से सम्बन्ध रखता है जब कि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण 'ज्ञान की क्रिया से।' ह्यूम का 'कारणातावाद' मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का उचित एवं प्राचीन उदाहरण है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण दर्शन के क्षेत्र में उपयोगी नहीं है क्योंकि दार्शनिक अन्वेषण में सहायक नहीं होती।

(7) **आकारिक विश्लेषण** (Formal Analysis)—आकारिक विश्लेषण के कई अर्थ लगाये जाते हैं। बर्ट्रेंड रसेल विश्लेषण को सृष्टिवाद की समस्याओं पर लागू करते हैं जबकि कार्नेप की दार्शनिक प्रणाली भी आकारिक विश्लेषण की प्रणाली है किन्तु उसने इसका उपयोग प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र के रूप में दर्शन के उद्देश्य के लिए किया किन्तु जॉन पासमोर के मतानुसार उसकी आकारिक संरचना में बहुत मुश्किलें हैं।"

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से इसका भेद यह है कि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में क्रियाओं का विश्लेषण किया जाता है जबकि आकारिक विश्लेषण में वाह्य वस्तुओं का विश्लेषण किया जाता है। इसीलिये कहा जा सकता है कि आकारिक विश्लेषण मानसिक प्रक्रिया का सूक्ष्म विवेचन है जोकि मनोवैज्ञानिक और भौतिक विश्लेषण से भिन्नता रखता है।

(8) **प्रदर्शनात्मक विश्लेषण** (Exhibition analysis)—स्टीफना कोर्नर ने विश्लेषण को दो भागों में बाँटा है—(1) प्रदर्शनात्मक और प्रतिस्थापित (Replacement) प्रदर्शनात्मक विश्लेषण के द्वारा उन मान्यता प्राप्त नियमों का प्रदर्शन करना है। जिसके संदर्भ में अभिव्यक्ति का उचित अथवा अनुचित का निर्णय लिया जाता है। क्योंकि विश्लेषण का उद्देश्य ही यह है कि अभिव्यक्ति के अर्थ को उद्घाटित किया जावे, न कि अभिव्यक्ति को खोजा जावे जो कि वक्ता एवं चिन्तकों द्वारा कहे जाते हैं।

(9) **प्रतिस्थापित विश्लेषण** (Replacement analysis)—कुछ विश्लेषणवादी इस मान्यता के हैं कि विश्लेषण का प्रमुख कार्य भाषा की पुनः संरचना करना है क्योंकि साधारण भाषा किसी सामान्य अथवा विशेष उद्देश्य के लिए ठीक नहीं होती। अतः भाषा का रूपान्तर करना ही विश्लेषण है।

(10) **स्पष्टिकारक विश्लेषण** (Clarifactory analysis)—कुछ चिन्तक यह मानते है कि विश्लेषण का कार्य स्पष्ट करना है। तार्किक भाववाद (Logical positivists) बताते हैं कि दार्शनिक अन्वेषण पदों के अर्थों का स्पष्टीकरण है। विटगेन्सटाइन दावा करते हैं कि दार्शनिक गतिविधियों का मुख्य उद्देश्य प्रत्ययों का तार्किक स्पष्टीकरण है, सिद्धान्तों का निर्माण नहीं। स्पष्ट करने का अर्थ यह है कि प्रत्ययों के अन्तर्तम में जो है उसे वाह्यता प्रदान करना, इसके विपरीत मूर के लिए 'प्रत्ययों का स्पष्टीकरण दार्शनिक विश्लेषण का साध्य है।

रसेल ने भी स्पष्टीकरण के मूल्य को माना है। उसके अनुसार दर्शन के कार्य का मुख्य अंग विचारों की आलोचना और स्पष्टीकरण है। जिनको बिना समीक्षा किये स्वीकार कर लिया जाता है।[1]

रसेल, मूर, विटगेन्सटाईन, तार्किक भाववादी, विजडम सब इस मत को ही मानने वाले हैं।

(11) **चिकित्सा सम्बन्धी और व्यवस्थित विश्लेषण** (Therapeutic and Systematic analysis)—पी० एफ० स्ट्रासन ने बताया है कि वर्तमान दार्शनिक विश्लेषण की दो शाखाएँ हैं—(1) चिकित्सा सम्बन्धी विश्लेषण और (2) व्यवस्थित विश्लेषण। चिकित्सा सम्बन्धी विशलेपकों के मतानुसार तत्व शास्त्री अब अपराधी नहीं है बल्कि रोगी है। उनका इलाज जैसा कि विशलेपक बताते हैं कि भाषा का तार्किक विश्लेषण है।[2]

व्यवस्थित विश्लेषण के बारे में स्ट्रासन के विचार स्पष्ट नहीं हैं क्योंकि कोई भी विश्लेषण व्यवस्थित हो सकता है।

(12) **प्रत्ययात्मक विश्लेषण और शाब्दिक विश्लेषण**—कभी-कभी विश्लेषण सामान्य रूप से दो भागों में विभाजित किये जाते हैं। विचार अथवा प्रत्ययों और तर्क वाक्यों से सम्बन्धित विश्लेषण को प्रत्ययात्मक विश्लेषण और पदों, वाक्यों और वक्तव्यों से सम्बन्धित विश्लेषण ही हैं।

वाइट मेन की मान्यता यही है कि दार्शनिक विश्लेषण शुद्ध रूप से प्रत्ययों का ही विश्लेषण है। मूर शाब्दिक विश्लेषण की निन्दा करता है।

(13) **पारिभाषिक विश्लेषण** (Definitional analysis)—कुछ वस्तुवादी (Realists) चिन्तक दार्शनिक विश्लेषण को परिभाषीय विश्लेषण के रूप में वर्णित करते हैं; रसेल विश्लेषण को परिभाषा का एक रूप स्वीकार करते हैं चाहे वह सत्य हो अथवा प्रत्ययात्मक। एयर ने विश्लेषण का तादात्म्य प्रत्ययात्मक परिभाषा

---

1. Russell also accepts the value of clarifying analysis. According to him, the most important part of the business of Philosophy consists in criticising and clarifying noteoris which are apt to be regarded as fundamental and accepted uncritically." Studies in Philosophical Methods—Dr. Chhaya Rai, p. 157

2. According to therapeutic analysis a "metaphysicous is treated no longer as a criminal but as a patient. The treatment or cure for them, as prescribed by analysts, is the logical analysis of language".—Ibid,

से किया है। मूर ने सदैव विश्लेषण को प्रत्ययात्मक के रूप में ही अपनाया है। समकालीन दार्शनिकों के लिए परिभाषा के तीन भेद हैं :—

(1) सत्य परिभाषा (Real definition)
(2) प्रत्ययात्मक परिभाषा (Conceptual definition)
(3) प्रकरणात्मक परिभाषा (Contextual definition)

प्रत्ययात्मक परिभाषा और प्रकरणात्मक परिभाषा में भेद यह है कि प्रत्यायात्मक परिभाषा प्रत्ययों अथवा तर्क वाक्यों के अर्थ को स्पष्ट करती हैं जबकि प्रकरणात्मक परिभाषा पदों और वाक्यों के अर्थ को स्पष्ट करती है। दूसरा भेद यह है प्रकरणात्मक परिभाषा पदों और वाक्यों का अर्थ किसी सन्दर्भ में ही लेती है जबकि प्रत्ययात्मक परिभाषा के लिए ऐसा कोई बन्धन नहीं है।

सत्य परिभाषा का सम्बन्ध प्रथमतः अभाप्यीय सत्यों से होता है जबकि प्रकरणात्मक परिभाषा का सम्बन्ध भाषायी जटिलता और वाक्यों से होता है। दूसरा तथ्य यह कि सत्य परिभाषा विवरणात्मक है जबकि प्रकरणात्मक परिभाषा स्थानापन्न (Substitution) है। तीसरा तथ्य यह कि सत्य परिभाषा या तो सच होगी या गलत। किन्तु अन्य प्रकार की परिभाषा न तो सच होती है और न गलत।

रसेल कहते हैं कि सत्य की परिभाषा आनुभविक अथवा संशलिष्ट तर्क वाक्यों में ही अभिव्यक्त की जाती है जबकि प्रकरणात्मक परिभाषा प्रागनुभव और विश्लेषणात्मक होती है।

प्रकरणात्मक परिभाषाएँ सदैव वक्तव्यों में ही व्यक्त की जाती हैं जो कि साधारण परिभाषाओं से ही मेल खाती हैं। किन्तु वे भाषा की जटिलता का विश्लेषण अपने में समाहित रखती हैं।

(14) **समान स्तर और नवीन स्तर का विश्लेषण**—समान स्तर और नवीन स्तर का विश्लेषण ये दो पद जॉन विजड़म ने बनाये हैं। उसने विश्लेषण को तीन भागों में विभाजित किया है—(1) भौतिक, (2) आकारिक और (3) दार्शनिक विश्लेषण। उसने भौतिक और आकारिक विश्लेषण को समान स्तर का विश्लेषण कहा है। मूर और ओटो न्यूरोथ का विश्लेषण इसी वर्ग में आता है।

दार्शनिक विश्लेषण, विजड़म के मतानुसार, मानस के तथ्य मानसिक वक्तव्यों में परिवर्तित किये जा सकते हैं और भौतिक में वस्तुओं के वक्तव्य संवेदना में परिवर्तित किये जा सकते हैं। इस प्रकार समान स्तर और नवीन स्तर के विश्लेषण की वे चर्चा करते हैं।

(15) **प्रतिगोचर मूलक विश्लेषण** (Transcendental Analysis)—प्रतिगोचर मूलक विश्लेषण, फेनोमेनो लॉजिकल-विश्लेषण के लिए ही प्रयुक्त किया जाता है। यह विश्लेषण कुछ नहीं केवल अनुभव के उदगम स्रोतों की ओर जाना है।

(16) **भाषा विश्लेषण** (Linguistic analysis)—भाषा विश्लेषक यह मानते हैं कि दर्शन को संवेदना के अनुभव से कुछ लेना-देना नहीं है। दर्शन का सम्बन्ध प्रतिकल्पना से भी नहीं है। उनकी दृष्टि में दर्शन केवल भाषा का विश्लेषण है। भाषा विश्लेषक परिभाषा का विश्लेषण भी अपने ही ढंग से करते हैं। मोरिट्ज, शिलक भाषा विश्लेषण की व्याख्या में कहते हैं कि विज्ञान और दर्शन में प्रयुक्त पदों के अर्थ का विश्लेषण है।

अध्याय | 3

ज्ञान की समस्या और संशयवाद

हमने पहले अध्याय में ज्ञान की समस्याओं की ओर ध्यान खींचा था और यह बताने का प्रयास किया था कि वास्तव में यह अनुभव भी किया कि ज्ञान मीमांसा की समस्या अन्य सभी समस्याओं से कितनी महत्वपूर्ण है। इसी कारण अनुभववादी जॉन लॉक ने ज्ञान मीमांसा को दार्शनिक चर्चा का विषय तथा केन्द्र बनाया और यह बताया कि ज्ञान मीमांसा अन्य सभी समस्याओं के पूर्व है।[1]

ग्रीक दर्शन में प्रोटेगोरस ने यह बता दिया था कि ज्ञान में कुछ भी वास्तविकता नहीं है, जो भी है वह संवेदना है। किन्तु प्लेटो ने विज्ञान पर बल देकर पुनः बुद्धिवाद को स्थापित किया। एक विशेष तथ्य जो यहाँ ध्यान देने योग्य है कि इन लोगों का ध्येय तत्व चिंतन की ओर अधिक रहा और ज्ञान मीमांसा गौण रही। सत्य की वे शाश्वत रूप में व्याख्या करते रहे जबकि मानव जीवन का अनुभव है कि 'सत् परिवर्तित होते रहते हैं। सत् के परिवर्तन का सुन्दर उदाहरण नक्षत्रों की गति का है।[2] डेकार्ट, स्पिनोजा और लाइब्निज तथा वोल्फ ज्ञान मीमांसा के प्रति उदासीन रहे और उसका विकास संयोगवश ही किया है। इनकी ज्ञान मीमांसा सामान्यतः बुद्धिवाद के नाम से जानी जाती है। इनके सिद्धान्त को प्रत्ययवाद भी कहा जाता है। दूसरी ओर अनुभववाद है जो अनुभव के आधार पर ज्ञान की व्याख्या करता है। अब हम अलग-अलग दार्शनिकों की ज्ञान सम्बन्धी विवेचना करेंगे।

प्लेटो के दर्शन में ज्ञान

प्लेटो के अनुसार ज्ञान की दृष्टि से विज्ञान, ज्ञान के वास्तविक विषय (Object of knowledge) हैं। उसके अनुसार विज्ञान और ज्ञान का विषय दोनों नित्य और अपरिणामी होना चाहिए। अनित्य और क्षणिक का वास्तविक ज्ञान नहीं हो सकता। अनित्यवाद और संदेहवाद के आधार पर किसी प्रकार का ज्ञान सम्भव नहीं। प्लेटो का मत था कि यदि इन्द्रिय प्रत्यक्ष को ज्ञान का मूल स्रोत मान लिया

1. दर्शनशास्त्र का परिचय—पेट्रिक, पृ० 329
2. समकालीन दर्शन—हृदयनारायण मिश्र, पृ० 193

जाय तो सोफिस्टों का यह मत कि "मानव सभी पदार्थों का मापदण्ड है।" या "वास्तविक ज्ञान असम्भव है विल्कुल यथार्थ हो जायेगा। इन्द्रिय प्रत्यक्ष हमें केवल विवर्त का ज्ञान प्राप्त करना है, इससे वस्तुओं के वास्तविक स्वभाव का ज्ञान होना सम्भव नहीं है, इन्द्रिय प्रत्यक्ष एक व्यावहारिक ज्ञान (Opinion) है जो यथार्थ हो भी सकता है और अयथार्थ भी। पारमार्थिक ज्ञान का स्थान व्यावहारिक ज्ञान नहीं ले सकता क्योंकि बुद्धि की अपेक्षा यह ज्ञान भावनाओं पर विशेष रूप से आधारित होता है। वास्तविक ज्ञान हमें बुद्धि या प्रज्ञा से ही प्राप्त हो सकता है। इन्द्रिय संवेदनों की अपेक्षा विज्ञान ही हमारे ज्ञान के एक मात्र विषय हैं। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान में हमें वस्तुओं के यथार्थ रूप का ज्ञान नहीं होता केवल उनकी प्रतीति भर होती है। प्लेटो ने थीटिटस नामक संवाद में प्रोटेगोरस के इस मत का कि "प्रत्यक्ष ही ज्ञान है।" पूर्ण रूपेण विवेचन किया है।

मध्य काल में ज्ञान-मीमांसा पर अधिक वल नहीं दिया गया। मध्ययुग के शास्त्रीय विचारकों का कथन था कि "ज्ञान की उत्पत्ति विश्वास से होती है" किन्तु डेकार्ट के पूर्व दार्शनिक निकोलस ने ज्ञान-मीमांसा पर चर्चा की। "निकोलस ने ज्ञान के चार स्तर वताये हैं—(1) इन्द्रिय संवेदन, जिसमें वाह्य और अन्तर दोनों प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान आता है। (2) सविकल्प तर्क या विश्लेषणात्मक बुद्धि, (3) संश्लेषणात्मक प्रज्ञा, और (4) निर्विकल्प ज्ञान या अपरोक्षानुभूति। इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा वस्तु का संवेदन होता है यह विधानात्मक है, निषेधात्मक नहीं। निकोलस के इन स्तरों का प्रभाव स्पिनोजा पर पड़ा है।[1]

डेकार्ट के दर्शन में ज्ञान

डेकार्ट बुद्धिवादी दार्शनिक है। उसने उद्घोषणा की थी—"ज्ञान की उत्पत्ति संदेह से होती है।" उसने अपने सूत्र (Cogito ergo sum) अर्थात् 'मैं चिन्तन करता हूँ इसलिए मैं हूँ' में यह प्रतिपादित किया कि ज्ञान का स्रोत बुद्धि द्वारा ही सम्भव है। बुद्धि ही ज्ञान का एक मात्र स्रोत है। वह बुद्धि द्वारा संशयात्मक प्रणाली को अपनाता है। डेकार्ट के दर्शन का ज्ञान के संदर्भ में अवलोकन करें तो हम पाते हैं कि वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान को स्वतः अप्रमाणित एवं परतः प्रमाणित मानता है क्योंकि इन्द्रियाँ कभी सत्य ज्ञान देती हैं तो कभी असत्य ज्ञान। अतः उनसे यथार्थ ज्ञान की आशा करना व्यर्थ है। जिस प्रकार इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान असत् होता है उसी प्रकार तार्किक ज्ञान भी असत् ही होता है। कभी-कभी हम तर्क करने में भी गलती करते हैं। इसका यह अर्थ है कि हमारे तर्क में कोई स्वाभाविक दोष है। डेकार्ट

1. पाश्चात्य दर्शन—डॉ० चन्द्रधर शर्मा, पृ० 73।

मानता है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष की भाँति तर्क भी स्वत: अप्रमाणित व परत: प्रमाणित होता है।

ज्ञान की प्रामाणिकता वाधित (Contradiction) और अवाधित (Non-contradiction) शब्दों से की जाती है। एक वस्तु जिसमें पूर्ण रूप से अवाधितत्व का गुण पाया जाता है वह सत् होता है। जिसमें वाधितत्व का गुण पाया जाता है वह असत् होता है। इस आधार पर डेकार्ट आत्मा ही को एक मात्र सत् मानता है। इस पर अनुभववादियों ने आरोप लगाया कि डेकार्ट आत्मा के आधार पर चिन्तन को सिद्ध करने का प्रयास करता है।[1]

स्पिनोजा के दर्शन में ज्ञान

डेकार्ट की तरह स्पिनोजा भी कट्टर बुद्धिवादी है। उसके अनुसार बुद्धि निश्चयात्मक और सार्वभौम ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता रखती है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान कभी भी अभ्रान्त नहीं हो सकता। बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान ही सम्पूर्ण ज्ञान का मूलाधार हो सकता है।

स्पिनोजा के दर्शन में ज्ञान-मीमांसा, तत्व मीमांसा का ही एक अंग है। मानव मन के विकास के साथ वह तीन प्रकार के ज्ञानों का वर्णन करता है।

(अ) **काल्पनिक ज्ञान**—इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान को स्पिनोजा काल्पनिक ज्ञान कहता है क्योंकि यह ज्ञान अस्पष्ट (Confused) और अपर्याप्त होता है। इस ज्ञान के भीतर अमूर्त्त प्रत्ययों का ज्ञान, संवेदनाओं का ज्ञान तथा स्मृति का ज्ञान सम्मिलित है। स्पिनोजा यह मानता है कि शारीरिक प्रभावों के द्वारा ही हमें प्रत्यक्ष के विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है और यही कारण है कि हमारे प्रत्यक्षों का ज्ञान स्पष्ट और सुभिन्न नहीं होता। क्योंकि हमें उनके वाह्य कारणों का साक्षात् अनुभव नहीं होता। इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान में हम इस वात पर निर्णय करने में सदा असमर्थ रहते हैं कि कहाँ तक वाह्य वस्तुओं के प्रभाव के कारण है और कहाँ तक शरीर के प्रभाव के कारण हैं।

(व) **वौद्धिक ज्ञान**—यह काल्पनिक ज्ञान से उच्चतर ज्ञान है। इसमें हमें भेद में अभेद अथवा द्वैत में अद्वैत का ज्ञान होता है। यहाँ अमूर्त्त प्रत्ययों (Abstract ideas) का माध्यम है। ज्ञान प्राप्त न कर 'सामान्य तत्वों (Common notions) और निगमन (Deduction) के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है। वौद्धिक ज्ञान में मूल प्रत्ययों का (Smiple ideas) का ज्ञान भी शामिल है, इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान से हमें केवल प्रतिविम्वों का ही ज्ञान होता है, वौद्धिक ज्ञान द्वारा हम विम्वों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। स्पिनोजा यह मानता है कि विस्तार, चैतन्य और द्रव्य का ज्ञान 'पर्याप्त ज्ञान' (Adequate knowledge) है।

---

1. आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास—ज० स० श्रीवास्तव, पृ० 116

प्रातिभ ज्ञान—यह ईश्वर का विशुद्ध ज्ञान है। बौद्धिक ज्ञान में तो हमें केवल सामान्य तत्वों का ही ज्ञान होता है, पर प्रातिभ ज्ञान में हमें विशेष विषयों का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होता है। इस ज्ञान की चार विशेषताएँ होती हैं—(1) यह ईश्वर के गुणों के सत्व का ज्ञान है तथा प्रातिभ ज्ञान के स्तर पर चैतन्य और विस्तार में कोई अन्तर शेष नहीं रहता, (2) प्रातिभ ज्ञान तब उत्पन्न होता है जब कोई वस्तु केवल अपने तत्व रूप से देखी जाती है, (3) जब कोई वस्तु अपने आसन्न कारण के माध्यम से देखी न जाकर अपने आदि कारण, ईश्वर के द्वारा देखी या समझी जाती है, (4) प्रातिभ ज्ञान बिल्कुल स्पष्ट और सुभिन्न प्रत्यय का प्रतिफल है।[1]

प्रश्न यह है कि प्रातिभ ज्ञान का स्वरूप क्या है? स्पिनोजा ने स्पष्टता (Clearness), सुभिन्नता (Distinctness) और निश्चयात्मक (Certainty) को सत्य का लक्षण बताया है। प्रथम दो लक्षण तो वही है जिसका डेकार्ट ने प्रतिपादन किया है। केवल तीसरा स्पिनोजा का अपना नवीन लक्षण है। ये तीनों सत्य के आन्तरिक (Intrinsic) लक्षण हैं। इसके अतिरिक्त सत्य का एक बाह्य (Extrinsic) लक्षण भी है जो संवादिता (Correspondence) कहा जाता है।

विभिन्न ज्ञानों का तारतम्य

स्पिनोजा के तीन प्रकारों के ज्ञान में क्रमबद्धता पाई जाती है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा काल्पनिक में निम्नतम सत्यता पाई जाती है। बौद्धिक ज्ञान में, इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान से कहीं अधिक सत्यता पाई जाती है। प्रातिभ ज्ञान में सबसे अधिक सत्यता पाई जाती है क्योंकि प्रातिभ ज्ञान बौद्धिक ज्ञान की ही पूर्णता या पराकाष्ठा है। स्पिनोजा कहता है, "सत्यता के स्वरूप के विषय में यह निश्चित है कि किसी सत्य विचार को असत्य विचार से केवल बाह्य लक्षणों द्वारा पृथक् नहीं किया जा सकता, प्रत्युत विशेषतः आन्तरिक लक्षणों द्वारा ही ऐसा किया जा सकता है। सत्य की कसौटी रूप में स्पिनोजा को यथार्थता की अपेक्षा संसलता अधिक स्वीकार्य है।

लाइबनिज के दर्शन में ज्ञान

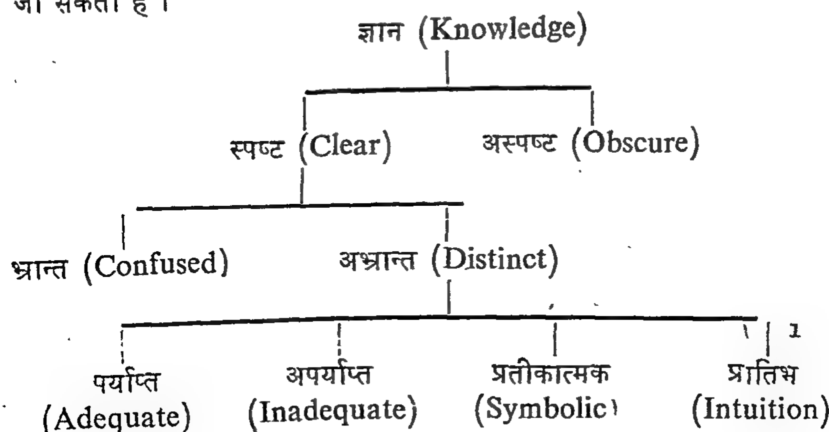
लाइबनिज, डेकार्ट और स्पिनोजा की तरह बुद्धिवादी दार्शनिक है जिसने चिद्बिन्दुवाद सिद्धान्त स्थापित किया। वह अपनी ज्ञान मीमांसा में प्रत्यक्ष (Perception) और चरिष्णुता (Appetition) इन दो प्रतिक्रियाओं को महत्व देता है। लाइबनिज के दर्शन में 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग 'अचेतन अनुभव' (Unconscious experience) के लिए किया गया है जिसे चिदाणु की चेतना स्पष्ट रूप से नहीं

1. आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास—ज० स० श्रीवास्तव, पृ० 153

जानती। यहीं 'अचेतन अनुभव' वाद में 'ज्ञात अनुभव' का रूप ग्रहण कर लेता है जिसमें संवेदना और स्मृति दोनों का अनुभव शामिल है। पुनः इस ज्ञात चेतना का भी विकास होता है और वह आत्म प्रत्यक्ष (Apperception) के रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार लाइबनिज के अनुसार ज्ञान की तीन अवस्थाएँ होती हैं, प्रत्यक्ष चेतन प्रत्यक्ष और आत्म प्रत्यक्ष।

प्रश्न यह है कि लाइबनिज के अनुसार ज्ञान क्या है? उसका स्रोत क्या है? डेकार्ट की ही तरह वह यह मानता है कि आत्मा के भीतर जन्म-जात प्रत्यय अवश्य होते हैं। दूसरी ओर लॉक से इस बात में सहमत है कि संवेदनाओं से विचारों की उत्पत्ति होती है। संवेदना विचारों की पूर्व गामिनी होती है। इस प्रकार वह बुद्धि-वाद और अनुभववाद के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करता है। उसका कहना था कि "बुद्धि को छोड़कर, बुद्धि में ऐसा कोई विज्ञान नहीं है जो पहले इन्द्रियों में न रहा हो।" ज्ञान न तो इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न संस्कार हैं, (Impressions) और न स्वप्न की भाँति मनोमय रचना (Mental Creations) है। यह चिदाणुओं की आन्तरिक अभिव्यक्ति है। चिद्णु के भीतर जो अव्यक्त है वही ज्ञान के रूप में व्यक्त होता है। सभी ज्ञान पहले से ही चिदणुओं में सूक्ष्म रूप से विद्यमान होते हैं उन्हें केवल व्यक्त करने की ही आवश्यकता होती है।

लाइबनिज ज्ञान को दो प्रकारों के ज्ञान में विभक्त करता है—(1) जन्म-जात ज्ञान, (2) इन्द्रियों द्वारा होने वाला ज्ञान। यह ज्ञानों के भेद उनके स्वभाव (Nature) द्वारा ही स्पष्ट किये जा सकते हैं। प्रथम प्रकार का ज्ञान अदैशिक, वैचारिक एवं अभ्रान्त होता है और दूसरे प्रकार ज्ञान दैशिक (Spatial), विस्तृत (Extended) और भ्रान्त होता है प्रथम ज्ञान 'व्याघात-नियम (Law of contradiction) पर आधारित है और दूसरा ज्ञान 'तात्कालिक प्रत्यक्ष (Immediate perecption) पर आधारित है। लाइबनिज के ज्ञान को निम्न सूची द्वारा वतलाया जा सकता है।



1. Meditation on knowledge, Truth and Idra.

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि लाइबनिज के अनुसार स्पष्ट, अभ्रान्त, पर्याप्त और प्रातिभ ज्ञान ही पूर्ण ज्ञान है।

लॉक के दर्शन में ज्ञान

लॉक अनुभववादी दार्शनिक है। उसका दर्शन प्रतिनिधात्मक यथार्थवाद (Representative Realism) भी कहा जाता है। उसके ज्ञान के सिद्धान्त को समझने के पहले हमें आत्मा को जानना चाहिए जो उसके अनुसार एक आध्यात्मिक द्रव्य है किन्तु आत्मा चेतन नहीं है। उसको आध्यात्मिक कहने का एक ही अर्थ है कि वह एक भौतिक द्रव्य नहीं है। आत्मा बिल्कुल रिक्त और ज्ञान शून्य है। लॉक के अनुसार आत्मा एक सफेद कागज के समान है, जिस पर कोई अक्षर अंकित नहीं होते। आत्मा एक स्वच्छ स्लेट के समान है जिस पर अनुभव अपनी सम्वेदन और स्वसम्वेदन रूपी उँगलियों से ज्ञान रूपी अक्षर लिखता है।

लॉक यह मानता है कि मानव में जो विज्ञान उत्पन्न होते हैं उसका स्रोत "अनुभव' है। 'अनुभव से ही सभी ज्ञान उत्पन्न होते हैं और उसी से वह अन्ततः निगमित होता है।[1] अनुभव दो प्रकार का होता है : (1) संवेदन (Sensation) और (2) स्व संवेदन (Reflection) ये ही दो ज्ञान के स्रोत हैं जिनसे सभी विज्ञान उत्पन्न होते हैं।[2]

"लॉक ने तीन समस्याएँ एक साथ ली," जैसा कि जगदीश सहाय श्रीवास्तव लिखते हैं—"(1) ज्ञान का स्रोत, (2) ज्ञान का औचित्य और उसकी सीमा और (3) दर्शन को मानव ज्ञान की सीमा से परे जाने से रोकने का प्रयास। परन्तु सर्वप्रथम उसने जन्म-जात विचारों की सत्ता का विरोध किया। जन्म-जात विचार नहीं है। यदि जन्म-जात विचार मनस में हों भी तो अन्य सत्यों की भाँति वे भी अनुभव से ही प्राप्त होते हैं। यदि कोई सत्य मनस में अनजाने अंकित हो जाता है तो वह क्योंकर जाना जा सकता है कि जन्म-जात और अनुभवजन्य विचारों में क्या अन्तर है ? तर्कबुद्धि यदि विचारों को पहले से ही जानती होती तो बच्चों, अशिक्षित व्यक्तियों और असभ्य पुरुषों को भी उनका ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि उनमें तर्क

---

1. Essays II i. 2 "In that all our knowledge is founded, and from that it ultimately derives itself".
2. "Lock credits all knowledge to experience, he differentiates two types of experience, that of sensation, by which impressions are received through the body from the external world, and that of reflection".

बुद्धि है।"[1]

लॉक के दर्शन में ज्ञान की प्राप्ति के लिए जिन बातों को आवश्यक माना गया था, वे थे—(1) मनस (Perceiving mind) (2) वाह्य पदार्थ (External object) और (3) मन के अन्दर प्रत्यय (Ideas within the mind)।

लॉक ज्ञान के प्रथम दो स्रोतों में संवेदन को महत्व देता है। इस शब्द का प्रयोग वह कई अर्थों में करता है। कभी तो वह इन्द्रिय प्रदत्त के रूप में प्रयोग करता है, जैसे रंग, रूप, शब्द, स्पर्श इत्यादि कभी वह इस शब्द का प्रयोग संवेद्य गुणों (Sensible qualities) जैसे पीला, सफेद गर्म, ठण्डा, मुलायम इत्यादि के लिए करता है। लॉक ने संवेदना की परिभाषा करते हुए कहा है कि "संवेदना शरीर के किसी भाग में उत्पन्न हुई गति या संस्कार है जो बुद्धि में कुछ प्रत्यक्ष उत्पन्न करता है।"[2]

संवेदना की उत्पति इस प्रकार से होती है—वाह्य वस्तुओं का इन्द्रियों पर प्रभाव पड़ता है। इन्द्रियाँ इस प्रभाव की सूचना मस्तिष्क तक पहुँचाती हैं। मस्तिष्क द्वारा मन प्रभावित होता है और मन में एक प्रकार का विज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रक्रिया को संवेदना कहा जाता है। मन में संवेदना और विचार एक साथ ही उत्पन्न होते हैं।

स्वसंवेदन (Reflection) अनुभव का दूसरा स्रोत है। लॉक कहता है कि स्वसंवेदन, "संवेदन द्वारा विज्ञानों पर किये गये मन के व्यापारों का प्रत्यक्षीकरण है।"[3] संवेदन हमें वाह्य इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होते हैं जबकि स्वसंवेदन हमें आन्तरिक इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होते हैं। पेट्रिक का कथन है कि "अनुभव के संवेदन में दो प्रकार अथवा पहलू होते हैं—आंतरिक तथा वाह्य। आंतरिक संवेदनों का लक्षण विषयीनिष्ठ होता है, जैसे इच्छा, भावना तथा चिंतन करना। दूसरे प्रकार के संवेदन वाह्य जगत के होते हैं, जैसे दृष्टि, घृणा तथा स्वाद के संवेदन।

संवेदन और स्वसंवेदन मानों दो ऐसे द्वार हैं जिनके द्वारा मानव को ज्ञान प्राप्त होता है किन्तु ये दोनों द्वार एक साथ नहीं खुलते, एक दूसरे के बाद खुलते हैं। इनमें संवेदन प्रथम और मुख्य है। स्वसंवेदन बाद में आता है और सदैव संवेदन की उपेक्षा रखता है।

---

1. पाश्चात्य दर्शन का इतिहास—जगदीश सहाय श्रीवास्तव, पृ० 201
2. Essays, II, 23 Sensations—an impression or motion made in some part of the body as produces some perception in the understanding.
3. वही II. 1, 4 - Reflection is "the perception of the operations of our own minds within us, as it is employed about the ideas it has got".

विज्ञानों के प्रकार

लॉक ने मुख्यत: दो प्रकार के विज्ञानों को माना है। एक को वह सरल और दूसरे को मिश्रित कहता है। सरल विज्ञान वे हैं जो संवेदन से या स्व संवेदन से या दोनों से उत्पन्न होते हैं। मिश्रित विज्ञान वह है जो सरल विज्ञानों के योग से अथवा मिश्रण से उत्पन्न होते हैं। मिश्र विज्ञान में मन की सक्रियता भी होती है। यहाँ ध्यान देने की बात है कि सरल विज्ञान सामग्री प्रदान करते हैं। आत्मा अथवा मन उन्हें उत्पन्न नहीं करता और न ही नष्ट करता है। दूसरा तथ्य यह है कि सरल विज्ञान सदैव आणविक, अयौगिक (Uncompounded), अमिश्रित और अविभाज्य होते हैं।

प्रश्न यह है कि क्या सरल विज्ञान मिश्र विज्ञान से पृथक् एक घटक के रूप में देखे जा सकते हैं? लॉक का उत्तर है नहीं। वे मिश्र विज्ञानों के एक अवयव रूप में ही प्रत्यक्ष किये जा सकते हैं। लॉक स्वयं कहता है "सरल विज्ञान परस्पर संगठित कई संघातों में विद्यमान देखे जाते हैं।"[1] लॉक के कहने का अर्थ यह है कि सरल विज्ञान मिश्र विज्ञान दोनों ज्ञान के प्रदत्त है पर सरल विज्ञान मिश्र विज्ञानों के एक घटक रूप में प्रदत्त हो सकते हैं, उनसे पृथक् नहीं।

सरल विज्ञान के भी लॉक ने चार भेद किये हैं—(क) वे सरल विज्ञान जो केवल एक इन्द्रिय के संवेदन द्वारा प्राप्त होते हैं जैसे रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श इत्यादि (ख) वे सरल विज्ञान जो आन्तरिक संवेदन द्वारा प्राप्त होते हैं जैसे प्रत्यक्षीकरण (Perception) या चिन्तन (Thinking) इच्छा (Will)। ये स्व संवेदन द्वारा होते हैं (ग) वे सरल विज्ञान जो एक से अधिक इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होते हैं—जैसे दृष्टि और स्पर्श द्वारा हमें विस्तार (Extension) आकार (Figure) और गति (Motion) आदि का ज्ञान प्राप्त होता है (घ) चौथे प्रकार के सरल विज्ञान वे विज्ञान हैं,जो संवेदन और स्व संवेदन दोनों द्वारों से प्राप्त होते हैं जैसे सुख (Pleasere) दुख (Pain), सत्ता (Existence), एकता (Unity) इत्यादि।

इसी प्रकार मिश्र विज्ञान, विज्ञानों के मिश्रण से प्राप्त होते है। अन्तर यही है कि सरल विज्ञान में मन निष्क्रियता की भूमी निभाता है पर मिश्र विज्ञान में मन की सक्रियता पाई जाती है। इसकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—(1) संयोजन (Combination), (2) संतुलन (Comparison) और (3) व्यवच्छेदन या प्रत्याहार (Abstraction)।

---

1. Essays, II. 12, I..."Simple ideas are observed to exist in several combinations united together".

संयोजन में मन विभिन्न सरल विज्ञानों को संयुक्त कर मिश्र विज्ञान बनाती है। सभी मिश्र विज्ञान इसी प्रकार बनते हैं।

संतुलन में मन दो विज्ञानों, चाहे वे सरल हों अथवा मिश्रित तुलना करने के द्वारा पास लाती हैं। इस प्रकार एक संबंध देखा जाता है। सम्बन्ध के सभी विज्ञान (Ideas of relations) इसी संतुलन प्रक्रिया पर निर्भर होते हैं।

प्रत्याहार में कुछ सरल विज्ञानों को अन्य सरल विज्ञानों से पृथक् कर सामान्य विज्ञानों (General ideas) का निर्माण किया जाता है। सभी सामान्य विज्ञान ऐसे ही बनते हैं।

चन्द्रधर शर्मा का कथन है कि 'लॉक की ज्ञान मीमांसा' अनेक दोषों से परिपूर्ण है ! वस्तुतः इन्द्रियानुभववाद की सच्ची प्रतिष्ठा हो ही नहीं सकती। जब तक बिखरे हुये संवेदन बुद्धि की मौलिक धारणाओं और नियमों द्वारा व्यवस्थित न किये जावें, तब तक ये 'संवेदन' मात्र रहेंगे, 'ज्ञान' नहीं बन सकते। ज्ञान का उद्गम इन्द्रियानुभव में कदापि नहीं हो सकता। ज्ञान हमारी आत्मा का सहज और स्वरूप धर्म है। इस सहज निर्विकल्प अनुभूति और उसके स्वतः सिद्ध मौलिक नियमों को माने बिना ज्ञान की उत्पति हो ही नहीं सकती।"[1]

ज्ञान की प्रामाणिकता

जहाँ तक ज्ञान की प्रामाणिकता का प्रश्न है, लॉक यह विचार करता है कि विज्ञान हमारे चेतना के विषय होते हैं अतः उनकी यथार्थता अथवा अयथार्थता का कोई विशेष प्रश्न ही नहीं होता। हमारे प्रत्यक्ष और विज्ञान, वे न तो सत्य होते हैं और न असत्य। उनका प्रश्न तब उठता है जब हम प्रत्यक्षों और विज्ञानों को बाह्य वस्तुओं से संबंधित कर उस विषय में निर्णय देते हैं।

ज्ञान के प्रकार

लॉक ने ज्ञान के तीन प्रकार माने हैं—(1) प्रातिभ ज्ञान (Intutive knowledge), (2) निदर्शनात्मक ज्ञान (Demonstrative knowledge) और (3) संवेदन (Sensitive knowledge)। प्रातिभ ज्ञान वे उसे कहते हैं जब दो विज्ञानों की अनुकूलता या प्रातिकूलता का ज्ञान बिना किसी तृतीय विज्ञान के माध्यम से होता है। उदाहरणस्वरूप सफेद, काला नहीं होता, दो और दो मिलकर चार होते हैं। डेकार्ट की भाँति लॉक भी प्रातिभ ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ मानता है किन्तु दोनों की मान्यता में भेद है।डेकार्ट विशुद्ध बौद्धिक प्रा. भान (Intellectual Intuition) में विश्वास करता है जबकि लॉक आनुभाविक प्रतिभान (Empirical Intuition) में विश्वास रखता है।

1. पाश्चात्य दर्शन—चन्द्रधर शर्मा, पृ० 141-142

निदर्शनात्मक ज्ञान वे उसे कहते हैं जब दो विज्ञानों की अनुकूलता या प्रति-कूलता का ज्ञान किसी तृतीय विज्ञान के माध्यम के द्वारा प्राप्त होता है। गणित और तर्कशास्त्र के ज्ञान बहुत कुछ इसी प्रकार के हैं। यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है कि जिन माध्यमों से हमें निदर्शनात्मक ज्ञान प्राप्त होता है। उनका ज्ञान प्रातिभ ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त होता है। हम यह कहें कि निदर्शनात्मक ज्ञान प्रातिभ ज्ञान का ही विस्तार है। लॉक के अनुसार गणित का ज्ञान निदर्शनात्मक ज्ञान का सर्वोत्तम उदाहरण है।

लॉक के अनुसार संवेदन ज्ञान उसे कहते हैं जो निकृष्टतम अवस्था है। हम संवेदन द्वारा साक्षात् ज़ानते हैं कि यह मेज है, वृक्ष है इत्यादि। संवेदन ज्ञान द्वारा पूर्ण विश्वास होता है कि हमसे इन वाह्य वस्तुओं का स्वतंत्र अस्तित्व है। यहाँ लॉक की भूल मालूम पड़ती है कि एक ओर वे संवेदना को ज्ञान की सामग्री मानते हैं ज्ञान नहीं और दूसरी ओर वे संवेदना को ही ज्ञान का प्रकार मान लेते हैं। पर उनके कथन से यह अभिप्राय है कि वाह्य वस्तु अपने आपमें हमसे स्वतंत्र है।

लॉक ने दर्शन के क्षेत्र में 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग निश्चयात्मक या अनिवार्य 'ज्ञान' के अर्थ में किया है। वास्तव में उपरोक्त ज्ञान के प्रकार हैं ही नहीं वरन् तीन प्रकार की सत्यता, निश्चयात्मक या अनिवार्यता को प्रकट करते हैं। इनके अतिरिक्त लॉक ने चौथे प्रकार के ज्ञान की भी चर्चा की है जो निर्णय कहा जाता है। 'निर्णय' की 'ज्ञान' से भिन्नता करते हुए लॉक ने कथन किया है कि ज्ञान जहाँ निश्चयात्मक और अनिवार्य हो निर्णय एक प्रकार का सम्भाव्य ज्ञान (Probable knowledge) ही होता है। साथ ही उन्होंने यह बताया कि सम्भाव्यता की विभिन्न अवस्थायें होती हैं, ज्ञान की नहीं।

लॉक ज्ञान की चर्चा एक अन्य प्रकार से करते हैं, जिसे श्रद्धा कहा जाता है। यह ज्ञान आप्तवचन पर आधारित होता है यह युक्ति और तर्क से परे होता है।

ज्ञान की सीमाएँ

लॉक के अनुसार ज्ञान की सीमाओं की समस्या भी चार प्रकार की है, जो कि ज्ञान की उत्पत्ति, स्वभाव, प्रामाणिकता एवं सीमा से ही सम्बन्धित है। इन सीमाओं का इस प्रकार विवेचन किया जा सकता है :—

(1) **सामग्री की दृष्टि से सीमा**—लॉक की ज्ञान की परिभाषा से दो तथ्य सम्मुख आते हैं। प्रथम यह कि हमारा ज्ञान प्रत्ययों तक ही सीमित है और दूसरा यह कि ज्ञान विज्ञानों की अनुकूललता अथवा प्रतिकूलता के प्रत्यक्ष से आगे नहीं बढ़ सकता। मानव अपने सभी विज्ञानों की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता का प्रत्यक्ष नहीं करता। अतः हमारा ज्ञान विज्ञानों से भी कम है। इस तथ्य का वर्णन डॉ० अवस्थी ने अग्रलिखित शब्दों में किया है :—

"चूंकि विचारों की समानता व असमानता का प्रत्यक्षीकरण मात्र मानव ज्ञान का आधार है, इसलिए लॉक के अनुसार हमारा ज्ञान विचारों की परिधि के बाहर नहीं जा सकता है। इसका आशय यह है कि ज्ञान न केवल विचारों के बाहर नहीं जा सकता वरन् ज्ञान विचारों से मात्रा में छोटा है क्योंकि हर वस्तु का न तो अनुभव कर पाते हैं और न प्रत्यक्ष की हुई प्रत्येक वस्तु को पूर्ण रूप से समझ ही पातेहै। हमारी इस अज्ञानता का कारण हमारी सीमित बनावट है।"[1]

(2) **उत्पत्ति की दृष्टि से सीमा**—हमारी संवेदनाएँ इन्द्रियों पर निर्भर होती हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ केवल पाँच हैं और उनकी क्षमता भी सीमित है। यदि इससे अधिक होतीं तो जगत् के संबंध में हमें अनेक भूल विज्ञानों की प्राप्ति होती। संवेदन पर निर्भर होने के कारण स्व संवेदन भी उतना ही सीमित होता है जितना संवेदन। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे पास केवल विज्ञानों का आभाव ही नहीं है वरन् जो कुछ विज्ञान हमारे पास हैं भी उनका भी हम ठीक प्रत्यक्ष नहीं कर पाते। इससे स्पष्ट है कि अज्ञान का क्षेत्र ज्ञान के क्षेत्र से कहीं अधिक बड़ा है।

(3) **निश्यात्मकता की दृष्टि से ज्ञान की सीमा**—निश्चयात्मक ज्ञान के बारे में हमने देखा था कि तीन प्रकार का होता है प्रातिभ ज्ञान, निदर्शनात्मक ज्ञान और संवेदन ज्ञान। सभी ज्ञान का प्रातिभ होना इस बात का प्रमाण है कि हमारे समस्त ज्ञान निश्चयात्मक नहीं होते। निदर्शनात्मक ज्ञान भी अन्ततः प्रातिभ ज्ञान पर ही आधारित होते हैं। जहाँ तक संवेदन ज्ञान का प्रश्न है वह सीमित होता ही है। बाह्य वस्तुएँ अज्ञेय होने के कारण हमारी संवेदनाओं की सत्यता और प्रामाणिकता का पता लगाना प्रायः असम्भव ही होता है। इन सभी कारणों से लॉक ने निष्कर्ष निकाला कि हमारा ज्ञान वास्तव में बहुत सीमित होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गणित और नीतिशास्त्र के अतिरिक्त जितने विज्ञान हैं वे अनुभव की सीमा में आवद्ध होने के कारण संकुचित हैं। यद्यपि लॉक ने मानवीय ज्ञान को सीमित और संकुचित कहा है इसका अर्थ यह नहीं कि हम अपने ज्ञान को विस्तृत नहीं कर सकते। लॉक ने दो उपाय बताये, प्रथम अनुभव की वृद्धि कर और द्वितीय अपने विज्ञानों को स्पष्ट, पर्याप्त। एवं अभ्रान्त करके। पूर्वा ग्रहो का अभाव, सूक्ष्म निरीक्षण, वैज्ञानिक संयंत्रों का प्रयोग एवं वैज्ञानिक विधि इत्यादि उपायों द्वारा हम अपने अनुभवों में पर्याप्त वृद्धि कर सकते हैं।

लॉक की ज्ञान मीमांस का ऊपर हमने विवेचन किया। आगे चलकर अनेक विरोध हुए भी लॉक का दर्शन ज्ञान मीमांसा की आधार शिला है जिसने वर्त-

1. पाश्चात्य दर्शन का इतिहास—डॉ० ज० प्र० अवस्थी, पृ० 213

मान समय में, उनके ज्ञान के विश्लेषण में तार्किक प्रत्यक्षवादियों को प्रभावित किया है।

आलोचना

अनुभववाद की आलोचना करते हुए पेट्रिक लिखता है—"यह मानते हुए कि समस्त ज्ञान संवेदन अथवा इन्द्रियानुभव से प्राप्त होता है, शुद्ध अनुभववाद अथवा संवेदनवाद कितना निरर्थक सिद्ध होता है। लॉक की शब्दावली में, जन्म के समय मानस एक कोरी स्लेट होता है, जिसमें संवेदन अपने छाप अंकित करते हैं, यह भी इतना ही निरर्थक सिद्धान्त है जितना कि उसका प्रतिद्वन्द्वी सिद्धान्त है जो ज्ञान को तर्क बुद्धि के संकाय से प्राप्त होना निरूपित करता है।"[1]

जार्ज बर्कले के दर्शन में ज्ञान

बर्कले अपने दर्शन द्वारा लॉक की भूलें ठीक करता है। वह भी लॉक की तरह अनुभववादी है। किन्तु लॉक का इन्द्रियानुभववाद बर्कले के दर्शन में विज्ञानानुभववाद बन गया है। बर्कले लॉक के अनुभववाद को स्वीकार करता है कि हमारे विज्ञान संवेदन अथवा स्वसंवेदन द्वारा आते हैं, हमारे ज्ञान के एक मात्र विषय विज्ञान ही है, विज्ञान आत्मा में अथवा मनस में उत्पन्न होते हैं, आत्मा विज्ञानों का आश्रम हैं, विज्ञान सरल और मिश्र होते हैं। यह सब बर्कले मानता है। किन्तु, बर्कले लॉक के जड़वादी सिद्धान्त को नहीं मानता। अर्थात् वह बाह्य जड़ पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता मानता है। जब लॉक इस बात को मानता है कि हमारे ज्ञान के एक मात्र विषय हमारे विज्ञान ही हैं, तब बाह्य पदार्थों की सत्ता कैसे स्वीकार की जा सकती है।

बर्कले के दर्शन को आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद कहा जाता है। उसके अनुसार "ज्ञान की इमारत संवेदन रूपी ईंटों से बनायी जाती है। कहा जाता है कि लॉक अनुभववाद पर चलकर जहाँ रुक गया था वहीं से बर्कले विचार करना प्रारम्भ करता है। उसने ज्ञान शास्त्र में एक नवीन समस्या उत्पन्न की। उसने प्रश्न किया कि ज्ञान की वस्तुओं की सत्ता क्या है? और प्रश्न के उत्तर में कहता है कि "किसी बाह्य पदार्थ का अस्तित्व उसके मन द्वारा प्रत्यक्षीकरण (Perception) पर निर्भर करता है, यदि यह मन न रहे तो यह वस्तु भी न रहे।"[2]

बर्कले के अनुसार ज्ञान मीमांसा में अधिकांश" कठिनाईयाँ दार्शनिकों द्वारा

---

1. दर्शन शास्त्र का परिचय—पेट्रिक, पृ० 342
2. समालोचक फरवरी 1959 वर्ष 2 अंक 1, लेख-दर्शन में यथार्थवाद—डॉ० ब्रज गोपाल तिवारी, पृ० 9।

उत्पन्न की जाती हैं। हम पहले धूल उड़ाते हैं और फिर शिकायत करते हैं कि हमें दिखायी नहीं देता। जिस प्रकार लॉक ने प्राथमिक और गौण गुणों में भेद किया। वर्कले अपनी ज्ञान मीमांसा के लिए एक सूत्र देता है—दृश्यते इति वर्तते (Esse est percipi) अर्थात् 'दृष्टि ही सृष्टि है' इसके द्वारा वे सिद्ध करते हैं कि उसकी सत्ता मानी जा सकती है जो अनुभव करता है या अनुभव किया जाता है। अनुभव कर्त्ता आत्मा है और अनुभव के विषय हैं विज्ञान। अत: आत्मा और उसके विज्ञानों के अतिरिक्त और किसी की सत्ता नहीं है। विज्ञान बाह्य कोई विषय नहीं है। जड़ तत्व की भी कोई सत्ता नहीं है। विज्ञान के केवल दो रूप हैं—संवेदन और स्व-संवेदन। संवेदनों की सृष्टि ईश्वर करते हैं और स्वसंवेदनों की सृष्टि आत्मा करती है। इस प्रकार वर्कले यह मानता है कि आत्मा और उसके विज्ञानों के अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं है। हमारे विज्ञान ही सत्य वस्तुएँ हैं। उसकी प्रसिद्ध उक्ति है—"मैं वस्तुओं को विज्ञान नहीं बनाता, मैं विज्ञानों को वस्तु बना रहा हूँ।"

एक विशेष बात जो वर्कले की ज्ञान मीमांसा में पाया जाता है वह यह है कि सत्ता 'अनुभव-मूलक है' इसका अर्थ, केवल इन्द्रियानुभव से ही नहीं है। इसमें 'अन्तर्वोध' या 'निर्विकल्प स्वानुभूति' का समावेश भी है। वर्कले ने बाद में अपने सूत्र को बदला और कहा "सत्ता अन्तर्वोध-मूलक है" (Esse east concipi) उसके आलोचक वर्कले पर मिथ्या दोषारोपण करते हैं क्योंकि उसके अनुसार जगत की सत्ता हमारे इन्द्रियानुभव पर आश्रित न होकर ईश्वर के ज्ञान पर आश्रित है।"

यही नहीं वर्कले 'अन्तर्वोध' और विज्ञान में चार भेद मानते हैं :—

(1) विज्ञान इन्द्रियानुभव से होता है, अन्तर्वोध प्रज्ञा से।

(2) विज्ञानों का ज्ञान विशेषों का ज्ञान है, अन्तर्वोध सामान्य और सार्वभौम ज्ञान है।

(3) विज्ञान पशुओं को भी होता है अन्तर्वोध केवल मानवों को और ईश्वर को।

(4) जहाँ विज्ञान की गति नहीं होती, वहाँ अन्तर्वोध होता है।

वर्कले की मान्यता है कि अन्तर्वोध विज्ञान नहीं है और न वह सामान्य होने के कारण अमूर्त विज्ञान हो सकता है। अमूर्त विज्ञान असंगत कल्पना है। अन्तर्वोध का स्वसंवेदन विज्ञान से सादृश्य तो है किन्तु अन्तर यह है कि स्वसंवेदन इन्द्रिय ज्ञान है, क्योंकि अन्त:करण से होता है और अन्तर्वोध प्रज्ञा से होता इन्द्रियों से नहीं। अन्तर्वोध से हमें (1) अन्य आत्माओं का, (2) अपनी मानसिक क्रियाओं का और (3) सम्बन्धों का ज्ञान होता है। अन्तर्वोध का विषय विज्ञान नहीं हो सकता।

वर्कले के ज्ञान मीमांसा में कमजोरी भी है। उनकी ज्ञान-मीमांसा एकांगी है। वे इन्द्रियानुभव और अन्तर्वोधानुभव का सामंजस्य पूर्णरूप से नहीं कर पाये हैं। पेट्रिक अपने ही रूप से वर्कले के बारे में लिखते हैं :

"इस स्थान पर पाठक कह सकता है, "ठहरो, मैं वर्कले की स्थिति से संतुष्ट नहीं हूँ, मैं तो यहाँ तक भी आश्वस्त नहीं हूँ कि उसकी युक्ति भी सुदृढ़ है। मैं उसमें दो कमियाँ देखता हूँ। पहली बात यह है कि भौतिक विज्ञान हमें वाह्य जगत के विषय में वताते हैं। कोई भी वैज्ञानिक वर्कले के इस दावे को स्वीकार नहीं करेगा, कि पुद्गल जैसी कोई चीज नहीं होती। विचार की वस्तुएँ मात्र प्रपंच होती हैं केवल प्रत्यक्ष की वस्तुएँ संवेदनों का पुलिन्दा अथवा इन्द्रिय-दत्तों की संसृप्टियाँ हैं।"

"सन्देह करने वाला आगे कहता है कि वर्कले की स्थिति में दूसरी कमजोरी यह है : "मान लीजिए कि गुलाव, वृक्ष, मकान, जैसी अनुभव की वस्तुएँ इन्द्रियदत्तों अथवा प्रत्यक्षों की मात्र संसृप्टियाँ हैं, फिर भी प्रत्यक्षों के कारण अवश्य होना चाहिए। ये वस्तुएँ विलकुल मेरी इच्छा अथवा आशा के विपरीत आती जाती हैं। कभी-कभी वे मेरे विचारों की शृंखला में अनिच्छा होते हुए भी घुस जाती हैं। यदि वे मात्र विषयीनिष्ठ अथवा मनस का पागलपन होतीं तो ऐसा कैसा कर सकतीं थीं। इसलिए उन प्रत्ययों का कोई न कोई वस्तुगत कारण अथवा स्रोत अवश्य होना चाहिए और फिर जैसा वर्कले कहता है, उसे यदि हमें स्वीकार कर लेने दिया जाय तो इन प्रत्ययों का वस्तुगत स्रोत कुछ सभी मनसा को एक समान मानने वाला निरन्तर वने रहने वाला तथा प्रभावित करने वाला होना चाहिए।"[1]

इसमें शक नहीं कि वर्कले आत्मनिष्ठ विज्ञानवादी दार्शनिक थे और उनका प्रभाव परवर्ती दार्शनिकों पर पड़ा। परन्तु ह्यूम का अनुभववाद उसकी पराकाष्ठा पर पहुँचा जिसके कारण वर्कले को 'अपूर्ण ह्यूम' भी कहा जाता है।

डेविड ह्यूम के दर्शन में ज्ञान

लॉक और वर्कले की तरह ही ह्यूम अनुभववादी है। ह्यूम में इन्द्रियानुभववाद अपनी चरम सीमा पर पहुँचा। लॉक और वर्कले से जो काम अधूरा छूट गया था उसको उन्होंने पूरा किया। ह्यूम ने वर्कले के आत्म तत्व का खण्डन कर यह सिद्ध कर दिया कि इन्द्रियानुभववाद को मानने से किसी 'तत्व' की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती—न ईश्वर की, न जीव की और न जगत की। चन्द्रधर शर्मा लिखते हैं, "लॉक के हाथों पड़कर दर्शन तत्व मीमांसा से अधिक ज्ञान मीमांसा वन गया था। वर्कले ने ज्ञान मीमांसा को महत्व देते हुए भी तत्व मीमांसा को भी निभाया।" ह्यूम ने ज्ञान मीमांसा को ही अपनाया और उसे मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं आलोचना वना दिया।

ह्यूम के अनुसार हमारा सम्पूर्ण ज्ञान केवल दो विषयों पर आश्रित है—इन्द्रिय संस्कारों पर तथा विज्ञान पर। इन्द्रिय-संस्कार (Impression) शब्द का

1. दर्शनशास्त्र का परिचय—पेट्रिक, पृ० 353-354।

प्रयोग ह्यूम ने सर्वप्रथम किया। संवेदन और स्वसंवेदन के लिए ही यह शब्द प्रयुक्त किया गया है। विज्ञान हमारे संस्कारों के प्रतिबिम्ब हैं। संस्कार का विज्ञान का भेद गौण है अर्थात् अनुभव की स्पष्टता और तीव्रता की न्यूनाधिकता का भेद है। संस्कारों की प्रतीति स्पष्ट और तीव्र होती है, विज्ञानों की अस्पष्ट और क्षीण। संस्कार इन्द्रियों से उत्पन्न होते हैं। चूँकि इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं अर्थात् एक जिससे बाह्य पदार्थों का बोध होता है और अन्तःकरण जिससे मनोभावों का। अतः संस्कार भी दो प्रकार के हैं—एक तो पंच इन्द्रियों के संस्कार जिसे संवेदन कहते हैं और दूसरे अन्तःकरण के संस्कार जिसे स्वसंवेदन कहते हैं। ह्यूम ने संवेदन और स्वसंवेदन दोनों को मिलाकर इन्द्रिय-संस्कार का नाम दिया है। ये संस्कार हमारे मानस पर जो प्रतिबिम्ब या प्रतिरूप छोड़ जाते हैं उनको विज्ञान कहते हैं। ह्यूम के शब्दों में—"इन दोनों का भेद उस तीव्रता और स्पष्टता की मात्रा में है जिसके साथ ये हमारे मानस से टकराते हैं और हमारी आत्मा में प्रवेश करते हैं। उन प्रत्यक्षों को जो बड़ी शक्ति और तेजी के साथ आते हैं हम 'संस्कार' (Impression) कहते हैं और इस नाम के अन्तर्गत मैं अपनी सभी इन्द्रिय संवेदनाओं, मनोवेगों और भावनाओं को समझता हूँ जो आत्मा से सबसे पहिले प्रवेश करती है। 'विज्ञानों' से मेरा तात्पर्य विचार यह चिन्तन में प्रयुक्त होने वाले इनके प्रतिरूपों से है।[1] रूप, रस गन्ध, स्पर्श, शब्द की साक्षात् प्रतीति संवेदन संस्कार है और सुख, दुःख, प्रेम, घृणा, क्रोध आदि की साक्षात् प्रतीति स्वसंवेदन संस्कार है। किन्तु कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि विज्ञान पर्याप्त तीव्र और स्पष्ट है पर संस्कार क्षीण और अस्पष्ट। ह्यूम के ही शब्दों में—"सोने में, बुखार में, पागलपन में, या आत्मा के किन्हीं अन्य गर्म संवेगों में, हमारे प्रत्यय हमारे संस्कारों की भाँति हो सकते हैं और कभी-कभी ऐसा होता है कि हमारे संस्कार इतने धूमिल और मन्द होते हैं कि हम उन्हें अपने प्रत्ययों से भिन्न नहीं कर सकते हैं। परन्तु इन कुछ उदाहरणों में दोनों की समानता के बावजूद दोनों सामान्यतः एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं और दोनों को दो वर्गों में बाँटने में किसी को आपत्ति न होगी।"[2]

ह्यूम के अनुसार संस्कारों और विज्ञानों को छोड़कर और कोई हमारे ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। इसका अर्थ यह है कि हमारा ज्ञान केवल संस्कारों और विज्ञानों तक ही सीमित है। हम यह नहीं जानते कि संस्कार कैसे उत्पन्न होते हैं। लॉक ने संस्कारों को बाह्य जड़ पदार्थों के कारण उत्पन्न और बर्कले ने ईश्वर की

1. मानव स्वभाव पर ग्रन्थ पु० 1 भाग 1, अधि० 1
2. वही

चित्त शक्ति के कारण उत्पन्न माना था लेकिन ह्यूम ने दोनों बातों को नहीं माना और कहा—हमारा 'ज्ञान प्रत्यक्ष तक ही सीमित है।'

हमारे मानस में विज्ञान का प्रवाह चलता रहता है। एक विज्ञान और दूसरे विज्ञान में संबंध होता है। यदि कोई सम्बन्ध नहीं होता तो ये विज्ञान अर्थहीन हो जाते। इनमें एक निश्चित क्रम होता है। यह क्रम साहचर्य नियम (Laws of Association) कहा गया है जो विज्ञानों के बीच काम करता है किन्तु ह्यूम ने स्पष्ट कहा है कि इन नियमों में कोई सार्वभौम सिद्धान्त या अनिवार्यता नहीं है। इनमें केवल स्वाभाविक अपेक्षा अर्थात् एक के बाद दूसरे का आना स्वभाव मात्र है। दूसरी बात जो इसमें पाई जाती है वह यह है कि इनमें आत्यान्तिक विरोध का अभाव पाया जाता है। एक विज्ञान के अनन्तर जो दूसरा विज्ञान आता है वह पहिले विज्ञान का अत्यन्त विरोधी नहीं हो सकता। साहचर्य नियम के जिन गुणों के कारण यह साहचर्य उत्पन्न होता है और जिन गुणों से मन इसके अनुसार एक विज्ञान से दूसरे विज्ञान को सोचा है, वे तीन प्रकार हैं—सादृश्य (Resemblance), कालगत या देशगत (Contiguity) और कारण तथा कार्य (Cause and Effect)।

सादृश्य सम्बन्ध में दो वस्तुएँ यदि समान हों तो एक का विज्ञान होने पर दूसरी का विज्ञान भी उपस्थित हो जाता है। कालगत अथवा देशगत सम्बन्ध में यदि दो घटनाएँ एक के बाद एक घटित हों अथवा एक ही स्थान में घटित हों, तो एक के विज्ञान से दूसरी का विज्ञान भी उपस्थित हो जाता है। कार्य कारण सम्बन्ध में एक के विज्ञान से दूसरे का विज्ञान होता है। इन तीन नियमों से हमारे विज्ञानों में संयोग, वियोग आदि होते हैं और इनसे ही हमारा ज्ञान बनता है। इन तीन नियमों का वही महत्व है जो भौतिक विज्ञान अथवा जड़ जगत में आकर्षण नियम (Laws of gravitation) का है।

बीसवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड के दार्शनिकों ने यदि किसी से सर्वाधिक प्रेरणा ली है तो वह ह्यूम से ही ली है। बर्ट्रैण्ड रसेल, विटगेन्स्टाइन, ए० जे० एयर इत्यादि तार्किक प्रत्यक्षवादियों के दार्शनिक गुरु ह्यूम ही रहे हैं। ह्यूम का गोचरवाद (Phenomenalism) आधुनिक तार्किक प्रत्यक्षवादियों का रुचिकर विषय रहा।[1]

ह्यूम के सम्बन्ध में हम यह कहेंगे कि उसने पुनः संशयवाद को जन्म दिया।

काण्ट के दर्शन में ज्ञान

काण्ट ने जब ह्यूम के विचारों को जाना कि केवल बुद्धि या केवल अनुभव से ज्ञान प्राप्त करना एकांगीपन को बताता है तब वह ज्ञान की खोज के लिए बुद्धिवाद

1. आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास—जगदीश सहाय श्रीवास्तव, पृ० 356

तथा अनुभववाद दोनों की ओर बढ़ा। उसने प्रथम बुद्धि में विश्वास किया पर प्रश्न उठाया कि प्रत्ययों को जन्म-जात और ज्ञान को मूल मानने पर यह कैसे कहा जा सकता है कि बाह्य जगत के पदार्थ प्रत्यय के अनुरूप है। इसके अतिरिक्त काण्ट ने एक प्रश्न और भी रखा कि यदि समस्त ज्ञान जन्म-जात प्रत्ययों से ही मिलता है, तो बहरे और अन्धे व्यक्तियों को सुनने और देखने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। उन्हें बिना आँख और कान के प्रत्ययों द्वारा ही ज्ञान प्राप्त हो जाना ठीक है, किन्तु ऐसा नहीं है।

ह्यूम के सन्देहवाद ने काण्ट को इतना प्रभावित किया कि उन्हें कहना पड़ा कि "ह्यूम ने मुझे रूढ़िवादी मोह निद्रा से जगा दिया।" "Hume aroused me from my dogmatic slumber।"

बुद्धिवाद के इन दोषों ने काण्ट को अनुभववाद की ओर मोड़ा, किन्तु ज्यों ही उसने डेविड ह्यूम के संशयवाद की झांकी देखी, वह इस अनुभववाद से भी असन्तुष्ट हो गया। उसने तटस्थ होकर इन दोनों वादों और ज्ञान की शक्ति की पक्षपात रहित परीक्षा की। इस प्रकार उसके निर्धारित सिद्धान्तों को परीक्षावाद का नाम दिया।[1]

'विशुद्ध बुद्धि की समीक्षा' नामक ग्रन्थ में काण्ट ज्ञान-क्रिया की व्याख्या और आलोचना प्रस्तुत करते हैं। उनका मत है कि यद्यपि हमारा समस्त ज्ञान इन्द्रिय-अनुभव से (अथवा उसके द्वारा) आरम्भ होता है तथापि वह इन्द्रिय अनुभव में आरम्भ नहीं होता। इसका यह अर्थ है कि इन्द्रिय-अनुभव को जन्म देने वाली और उसे सम्भव बनाने वाली कुछ शक्तियाँ, पहले से हमारे मन में होती हैं, जिनके बिना इन्द्रिय-अनुभव सम्भव ही नहीं हो सकता है। अतः मन की इन शक्तियों को इन्द्रियानुभव का स्रोत (Source) कहा जा सकता है। वे इन्द्रिय-अनुभव के पूर्ण मनस में स्थित हैं, और उन्हें इन्द्रिय-अनुभव का उद्‌गम स्थान माना जा सकता है। इस प्रकार हमारे समस्त ज्ञान का जन्म उन मानसिक शक्तियों से होता है, वे प्रागनुभव शक्तियाँ (इन्द्रिय) ज्ञान की जननी हैं। पर केवल उन शक्तियों से ही काम नहीं चलता। हमारे मनस की इन शक्तियों को, ज्ञान-सामग्री उत्पन्न करने के लिए, बाहर से आये हुए संवेदनों की आवश्यकता है।

---

1 याक़ूब मसीह ने काण्ट के बारे में लिखा है "काण्ट ने वैज्ञानिक ज्ञान को ज्ञान का मापदण्ड माना है। चूँकि वैज्ञानिक ज्ञान में प्रत्यक्ष का स्थान सर्वोपरि माना जाता है, इसलिए काण्ट के अनुसार प्रत्यक्ष के द्वारा केवल सामग्री प्राप्त होती है और प्रत्यक्ष से प्राप्त कच्ची सामग्री को वैज्ञानिक ज्ञान में ढालने का काम मन करता है। मन के अपने साँचे और ढाँचे हैं जो प्रत्यक्ष सामग्री को वैज्ञानिक ज्ञान में परिवर्तित कर देते हैं। पृ० 60

काण्ट का मत है कि ज्ञान सदा निर्णय (Judgement) के रूप में होता है, जिसमें किसी बात को स्वीकार किया जाता है या किसी बात को अस्वीकार। उन्होंने दो प्रकार के निर्णय माने हैं (1) वियोजक या विश्लेषक (Analytic), (2) संयोजक (Synthetic)। वियोजक निर्णय उन्हें कहा जाता है जिनमें विधेय द्वारा, उद्देश्य के किसी नये गुण का ज्ञान नहीं होता है। (2) संयोजक उस निर्णय को कहा जाता है जिसमें कुछ नयी बात या नयी सूचना दी जाती है। यह संयोजन निर्णय भी दो प्रकार के होते हैं—(1) अनुभवाश्रित (Aposteriori) और (2) प्रागनुभव (A Priori)। अनुभावाश्रित निर्णय अनुभव के पश्चात है जैसे "कौवे काले होते हैं। प्रागनुभव निर्णय अनुभव के पूर्व लिये जाते हैं। ये प्रागनुभव निर्णय हमें भविष्य का अनुभव के पूर्व ही निश्चित ज्ञान देते हैं, यह ज्ञान सार्वभौमिक भी होता है। यह ज्ञान अनिवार्य भी होता है। काण्ट इसकी परीक्षा लेता है और तीन अधीनस्थ विभागों में विभक्त करते हैं—(1) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष (Sensibility) से सम्बन्ध रखने वाला, (2) समझ (Understanding) से सम्बन्ध रखने वाला, (3) बुद्धि से सम्बन्ध रखने वाला। तीनों एक दूसरे से भिन्न हैं। फिर दो प्रश्न सामने हैं कि (1) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष कैसे सम्भव है ? और (2) समझ कैसे सम्भव है। इनको समझाने के लिए वह बारह कोटि (Categories) को बतलाता है जिसके कारण ज्ञान होता है।[2]

काण्ट ने दो तत्व प्रपंच (Phenomena) और मूल तत्व (Nonmena) माने हैं। काण्ट की धारणा यह है कि हम मूल तत्व का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, अर्थात् हम जगत के उसी रूप को जानते हैं, जो हमारा मानस अपनी इन्द्रिय-शक्ति के रूपों (Sense forms) एवं प्रज्ञा के कल्पनात्मक प्रकारों या संज्ञाओं (Categories of the Understanding) के वाह्य सामग्री के बड़े प्रभाव से बनता है। इस प्रकार हम केवल वास्तविक जगत अथवा मूल तत्व की प्रतीति (Appearance) मात्र का ज्ञान प्राप्त करते हैं। हम जो देखते और जानते (Percepts and Concepts) हैं वे मूल तत्व के प्रपंच (Phenomena) हैं। वे स्वयं मूल तत्व (Things in themselves or Nonmena) नहीं हैं। हमारा ज्ञान, काण्ट के अनुसार, प्रपंचात्मक (Phenomenal) ज्ञान है, इस प्रकार काण्ट दृश्य जगत को मनस की क्रीडा का फल (Mental Constuct) ही मानते हैं किन्तु साथ ही (बर्कले की भाँति) मनस मात्र को मानते हुए वे किसी अन्य वाह्य सत्ता को अस्वीकार करते हों, ऐसा नहीं है। वे मूलवस्तु के जगत (Nonmenal world) का अस्तित्व स्वीकार करते हैं,

---

1. काण्ट का कहना है कि बिना कोटि (Categories) के प्रत्यक्ष धोखा है और बिना प्रत्यक्ष के कोटि खाली साँचा है "Percepts without concetps are blind, and, concepts without percepts are empty. p 65

और दृश्य जगत को उसकी प्रपंचात्मक प्रतीत वताते हैं। अतः उनका मत Phenomenalism कहलाता है।

ज्ञान मीमांसा के क्षेत्र में देन के वारे में लिखते हैं कि जहाँ "ह्यूम के संशयवाद ने भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान एवं ईश्वर विज्ञान इन तीनों की नींव हिला दी थी। काण्ट ने पुनः इन विज्ञानों में मनुष्य की आस्था को स्थापित किया। उन्होंने घोषित किया कि निश्चयात्मक ज्ञान सम्भव है। (पृ० 410)

हीगल के दर्शन में ज्ञान

हीगल महोदय काण्ट के प्रपंचवाद की तीव्र आलोचना करते हैं। उनका कहना है कि जव हम केवल प्रतीति जगत अथवा प्रपंच जगत (Penomenal world) का ही ज्ञान प्राप्त कर सकते, तब हम मूल जगत को (Nonmenal world) की चर्चा भी कैसे कर सकते हैं? हम यह कैसे वता सकते हैं मूल जगत आध्यात्मिक स्वरूप वाला है, उसमें नैतिक संयम है, आदि जैसा कि काण्ट महोदय ने बताया।

हीगल ने ज्ञान के तीन स्तर वतलाये हैं। पहले स्तर अर्थात् इन्द्रिय-जन्य ज्ञान अथवा संवेदनों एवं इन्द्रिय-प्रत्यक्षों द्वारा प्राप्त ज्ञान में हम जगत की वस्तुओं को अलग-अलग देखते हैं। दूसरे स्तर में, अर्थात् वैज्ञानिक ज्ञान में हम घटनाओं को प्रेरित करने वाले व्यापक नियमों का पता लगाते हैं। तीसरे स्तर में, अर्थात् दार्शनिक ज्ञान के स्तर में, हम अन्तर्यामी समन्वयात्मक सम्पूर्ण चैतन्य (Absolute idea) की भिन्न अभिव्यक्तियों, आंशिक वस्तुओं और उनके समन्वयों से सम्बद्ध प्रणाली अथवा सोपान में पाते हैं। यह प्रज्ञा की सर्वोत्तम प्राप्ति है।

यथार्थवाद में ज्ञान का प्रत्यय

यथार्थवाद या वस्तुवाद, प्रत्ययवाद या आदर्शवाद का विरोधी मत है। इस मत के अनुसार वस्तुएँ मन से बाहर अपनी स्वतन्त्र सत्ता या अस्तित्व रखती हैं। कोई भी ज्ञान प्राप्त करने वाला मनस हो या न हो, किन्तु ये पदार्थ तथा वस्तुएँ रहेंगी। उन वस्तुओं का मनस के ऊपर रहना निर्भर नहीं है।

वास्तव में वस्तुवादी दार्शनिक ज्ञान की समस्या को समकालीन दर्शन की प्रमुख और महत्वपूर्ण समस्या मानते हैं।[1] वस्तुवादी दार्शनिकों में मूर, रसेल, विटगेन्सटाइन आदि के नाम प्रमुख हैं।

ज्ञान की मूर द्वारा व्याख्या

मूर ने ज्ञान का द्वि-कारक सिद्धान्त का प्रतिपादन कर इस वात पर वल

---

1. Present Philosophical Tendencies—R.B. Perry p. 272 Long man, Green & Co. New York 1912

दिया है कि ज्ञान की क्रिया से ज्ञान की वस्तु भिन्न और स्वतन्त्र है। यदि किसी व्यक्ति को उसका ज्ञान न भी हो तो भी वह वस्तु विद्यमान रहेगी, ज्ञान के द्वि-कारक सिद्धान्त में इंद्रिय-दत्त (Sense data) की महत्वपूर्ण समस्या है। वह इंद्रिय-दत्त को संवेद्य (Sensibles) कहता है। इन संवेद्यों की परिभाषा करते हुए वह कहता है कि "इन्द्रिय-दत्त एक प्रकार की वस्तुएँ हैं जिनके विषय में निर्णय कहे जाते हैं या जो निर्णय के विषय होते हैं। वे यथार्थ प्रतीत होते हैं।"[1] प्रश्न यह है कि इन संवेद्यों का सम्बन्ध ज्ञान से और वस्तु से क्या है? मूर यह मानता है कि वस्तुएँ इन्द्रिय-दत्तों से भिन्न नहीं होतीं इन्द्रिय-दत्तों से उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। ज्ञान की क्रिया से इन्द्रिय दत्त तो स्वतन्त्र हो सकते हैं किन्तु इन्द्रिय-दत्तों से वस्तुयें स्वतन्त्र नहीं हैं। लॉक ने भौतिक वस्तुओं के वस्तुवाद को इन्द्रिय-गुणों के विषयीनिष्ठ-वाद से मिलाकर एक कर दिया था किन्तु मूर का भौतिक वस्तुओं का वस्तुवाद प्रत्यक्षीकरण की शाश्वत सम्भावना बन जाता है।[2]

मूर की एक और मान्यता है कि इन्द्रिय-दत्त में ज्ञान की क्रिया तथा संवदना की क्रिया में भिन्नता है। बाद में वह 'Cntemporary British Philosophy' में वह इन्द्रिय-दत्त और वस्तुओं के तादात्म्य पर हो सकने वाली आपत्तियों पर विचार करने लगा और निश्चयपूर्वक नहीं बता सका कि यह तादात्म्य कैसे सम्भव है।

ज्ञान का चतुष्कारक सिद्धान्त—बर्ट्रेण्ड रसेल

रसेल का दार्शनिक चिन्तन ज्ञान के चतुष्कारक सिद्धान्त से प्रारम्भ होता है। वह मूर की तरह ज्ञान की क्रिया और ज्ञान की वस्तु में भेद करता है। मूर और रसेल में भिन्नता यह है कि मूर संवेद्यों को किसी न किसी प्रकार भौतिक वस्तुओं से सम्बद्ध मानता है। उनके अनुसार संवेद्य संवेदना की क्रिया से अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं जबकि रसेल संवेद्य वस्तुओं (Sensible object) को वैयक्तिक मानते हैं। जिस क्षण कोई व्यक्ति संवेद्य वस्तुओं का अनुभव करता है उसी क्षण तक उनका अस्तित्व रहता है। दूसरे व्यक्ति और दूसरे क्षण के संवेद्य उससे भिन्न होते हैं। रसेल के शब्दों में, "यदि मैं आँखें बन्द कर लूं तो रंग समाप्त हो जाता है, यदि मैं मेज से अपना हाथ हटा लूं तो कठोरता की संवेदना समाप्त हो जाती है।"[3]

प्रश्न यह है कि इन्द्रिय-दत्तों से भिन्न भौतिक वस्तुओं का क्या स्वरूप है, और इन्द्रिय-दत्तों से हम उन्हें किस प्रकार जानते हैं। रसेल कहता है कि हम

1. Philosophical Studies—G.E. Moore p. 281
2. A History of Philosophy—Drank Thilly p. 602
3. The Problems of Philosophy—Russell, p. 42

भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व को कभी सिद्ध नहीं कर सकते, हम इन्द्रिय-दत्तों से आगे बढ़ने का कोई मार्ग नहीं पाते हैं।

इन्द्रिय-दत्तों से स्वतन्त्र भौतिक वस्तु के ज्ञान की सम्भावना पर विचार करते हुए रसेल ने लिखा है कि ज्ञान दो प्रकार का होता है—साक्षात् ज्ञान (Knowledge by acquaintance) और वर्णन ज्ञान (Knowledge of description)। साक्षात् ज्ञान हमें सीधे प्राप्त होता है। इन्द्रिय-दत्तों का ज्ञान इसी प्रकार है। हमारी चेतना के सामने इन्द्रिय-दत्त ही आते हैं। रसेल साक्षात् ज्ञान (Knowledge of acquintance) के बारे में बताते हैं—"जो ज्ञान परिचय-प्रदत्त है, वह सदैव स्वतः प्रमाणित होता है। हमारे इन्द्रिय प्रदत्त सदैव निश्चित एवं स्वयं सिद्ध होते हैं परन्तु जब हम प्रत्यक्षीकरण से उनके प्रति निर्णय लेते हैं तो यह सम्भव है कि इस प्रक्रिया में भ्रांति हो जाये।"

साक्षात् ज्ञान के अतिरिक्त, रसेल की मान्यता के अनुसार, कुछ अन्य वस्तुओं का ज्ञान भी सम्मिलित रहता है। रसेल ने इन्हें सामान्य (Universal) का है जैसे सफेदी, न्याय आदि, यद्यपि इनका देशकाल में अस्तित्व नहीं है और न इनके इन्द्रिय-दत्त प्राप्त होते हैं किन्तु इनका अस्तित्व है और ये हर सत्य में सम्मिलित रहते हैं। रसेल क्रियाओं और सम्बन्ध कारकों को उनमें सम्मिलित करता है। रसेल यह मानता है कि हमें इन सामान्यों का साक्षात् ज्ञान होता है।

ज्ञान के इस विश्लेषण से हमें वस्तु का वर्णन ज्ञान प्राप्त होता है जिसमें इन्द्रिय-दत्तों और सामान्यों का साक्षात्-ज्ञान सम्मिलित रहता है। इस प्रकार रसेल दार्शनिक जीवन के प्रथम स्तर पर ज्ञान के चतुष्कारक सिद्धान्त को स्वीकार करता है। वे चारों कारक हैं—(1) चेतना, (2) इन्द्रिय-दत्तों का साक्षात् ज्ञान, (3) सामान्यों का साक्षात् ज्ञान और (4) भौतिक वस्तुओं का वर्णनत्मक ज्ञान।

ज्ञान का त्रिकारक सिद्धान्त

रसेल ने तीन वर्ष बाद एक दूसरी पुस्तक 'वाह्य संसार का हमारा ज्ञान' (Our knowledge of the external world) लिखी और उसमें ज्ञान के चार कारकों में से तीन ही रहने दिये। ये तीनों कारक इस प्रकार हैं—(1) चेतना या मानसिक बोध की क्रिया, (2) इन्द्रिय-दत या संवेद्य वस्तुएँ जिनका हमें बोध होता है और (3) प्रत्यक्षीकरण की वस्तुएँ जो तर्कीय निर्मितियाँ हैं। दो कारक तो वैसे ही हैं जैसा वह पहिले मानता था किन्तु तीसरे कारक के विषय में उसका कहना है कि या तो भौतिक वस्तुएँ हैं हीं नहीं (जैसा प्रत्ययवादी मानते हैं) या हैं भी तो हम उन्हें जान नहीं सकते (जैसा काण्ट मानता है) वह वस्तुओं का अस्तित्व तो मानता है किन्तु वे भौतिक न होकर इन्द्रिय-दतों द्वारा निर्मित प्रतीत होते हैं।

सन् 1921 में उसने उसकी पुस्तक 'मानस का विश्लेषण' लिखी और उसने दो कारकों, 'संवेदना की क्रिया' और 'संवेदना की वस्तु, इन्द्रिय-प्रदत' को एक में मिला दिया। वह केवल इन्द्रिय-प्रदत को ही यथार्थ मानने लगा। यही संवेद्य की चेतना क्रिया भी है और भौतिक वस्तु भी। ये तटस्थ सत्ताएँ हैं। वे स्वयं न चेतना है और न भौतिक वस्तु।

पियर्स के अनुसार ज्ञान

पियर्स ने अपने दार्शनिक सिद्धान्त में ज्ञान मीमांसा पर बल दिया है। वह यह मानता है कि जब मानव को ज्ञान से रुचि होती है तो ज्ञान की प्रगति होती है।

ज्ञान तीन मुख्य प्रत्ययों, प्रतिभा (Icon), अभिसूचक (Index) एवं प्रतीक अथवा संकेत (Symbol) द्वारा होता है और ये परस्पर सम्बन्धित होते हैं।

पियर्स कहते हैं कि "अनुभव ही मानव का एक मात्र शिक्षक है" पियर्स ज्ञान को अनुभावाश्रित मानते हैं फिर भी लॉक के रिक्त पट्टियों (Tabula Rasa) के सिद्धान्त पर विश्वास नहीं करते। पियर्स मानव अनुभव को बाह्य जगत के प्रभावों एवं मन की अतल गहराइयों के संवेदनों का परिणाम मानते हैं।

✓ संशयवाद

संशयवाद उतना ही पुराना है जितना कि मनुष्य। इस विचारधारा का आरम्भ यूनानी दर्शन में देखा जा सकता है। वास्तव में संशयवादी वह व्यक्ति होता है जो प्रश्न करता है एवं साथ ही सन्देह भी करता है क्योंकि ज्ञान के साथ निश्चयात्मक ज्ञान की समस्या जुड़ी हुई है। जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो संशयवादी कहता है कि वे वस्तु नहीं, वे केवल विचार होते हैं। (All objects are our ideas)। सोफिस्टों से पूर्व के विचारकों ने केवल इन्द्रियों द्वारा प्रदत्त ज्ञान को संदिग्ध ठहरा दिया था। किन्तु सोफिस्टों ने संशयवाद द्वारा नीति और धर्म पर अपनी चोट की। संशयवादी इस सीमा तक आगे बढ़ते हैं कि वे स्मरण ज्ञान को भी सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। संशयवादी के सम्मुख निश्चयात्मकता का आधार प्रश्न के रूप में रहता है, जैसा कि यशदेव शल्य लिखते हैं—"उदाहरणत: जब मैं कहता हूँ कि मुझे ज्ञात है कि मेरे हाथ में पेन है तो सन्देहवादी के यह प्रश्न करने पर मेरी निश्चयोक्ति का क्या आधार है? मेरा कोई भी निश्चयात्मक बोध बाद में भ्रामक हो सकता है।"[1]

प्लेटो ने यद्यपि यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि सन्देहवाद एक असम्भव सिद्धान्त है फिर भी वह उसके विकास को रोकने में असफल रहा। आगे चलकर

1. समकालीन दार्शनिक समस्याएँ—स० यशदेव शल्य, पृ० 20

डेकार्ट ने पुनः सन्देह को आधार बना कर दर्शन के क्षेत्र को पल्लवित किया, किन्तु ह्यूम ने संदेहवाद अथवा संशयवाद को चरम स्थिति में पहुँचा दिया।

संशयवाद के इतिहास पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि डेकार्ट के पहिले, पाइरो (Pyrrho) और सेक्सटस इत्यादि संशयवादी थे। उनका मत था कि मनुष्य को किसी विषय के विचार से दूर रहना चाहिए किन्तु इनकी सन्देह-पद्धति और डेकार्ट की संदेह-पद्धति में अन्तर है। पिछले संदेहवादियों ने संदेह को अपना लक्ष्य, साध्य; उपेय अथवा गन्तव्य मान लिया था। किन्तु डेकार्ट संदेह को केवल लक्षण, साधन, उपाय या मार्ग के रूप में स्वीकार करता है। संदेह डेकार्ट का केवल प्रस्थापन विन्दु है, उसका गन्तव्य स्थल नहीं। वह विशुद्ध बुद्धिवादी (Rationalist) है, संदेहवादी (Sceptic) नहीं।[1]

यूनानी संशयवाद और ह्यूम के संशयवाद में भी अन्तर है। "यूनानी संशयवाद ज्ञान मात्र पर लागू होता है किन्तु ह्यूम का संशयवाद का मुख्य विषय भौतिक विज्ञान है। यह सन्देहवाद प्रधानतया प्रकृति-जगत की बुद्धि सभ्यता के बारे में है। उसके प्रहार का मुख्य लक्ष्य विज्ञान या भौतिक शास्त्र है।"[2] ह्यूम संशयवाद के आधार पर यह निष्कर्ष निकालता है कि या तो गणित का निश्चित और अयथार्थ ज्ञान अथवा विज्ञान का अनिश्चित अथवा यथार्थ ज्ञान सम्भव है। गणित के नियम अनुभव पूर्ण (A-priori) है और इसलिए अयथार्थ हैं। विज्ञान के नियम यथार्थ हैं क्योंकि वे अनुभव पर आश्रित हैं।[3]

(ह्यूम का सन्देहवाद का अर्थ है कि हमारा प्रत्येक ज्ञान संदिग्ध है। सन्देह से परे हम कुछ नहीं जानते। ह्यूम समस्त वस्तु जगत के ज्ञान के प्रति संदेह प्रकट करता है। ह्यूम के दर्शन में हम तीन प्रकार के संकाय देखते हैं। क्योंकि अनुभव के द्वारा हमें केवल पृथक्-पृथक् संस्कारों या विज्ञानों का ही ज्ञान होता है, जिनके बीच बुद्धि किसी भी प्रकार के सम्बन्ध को प्रत्यक्ष नहीं करती। सर्वप्रथम उसका संशय बुद्धि के विषय में है। यद्यपि ह्यूम यह स्वीकार करते हैं कि बीज गणित और अंक गणित सम्बन्धी तर्क सदैव यथार्थ होते हैं और फिर भी हम इस विषय में पूर्ण रूप से आश्वस्त नहीं हो सकते कि बीज गणित और अंक गणित के नियमों का ठीक प्रकार चालन किया गया है। चाहे ज्यामिति हो अथवा बीज गणित अथवा अंक गणित। इसके निष्कर्ष हमारे लिए कोई सम्भाव्य (Probable) ही होते हैं। गणित के तर्क सिद्धांतः ही निश्चयात्मक माने जा सकते हैं, व्यवहारतः वे केवल सम्भाव्य ही होते हैं।

---

1. आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास—ज० स० श्रीवास्तव, पृ० 88
2. पूर्वी और पश्चिमी दर्शन—डॉ० नन्द किशोर देवराज, पृ० 13
3. पाश्चात्य दर्शन का ऐतिहासिक विवेचन—रामनाथ शर्मा, पृ० 16

ह्यूम का दूसरा संशय इन्द्रियों के अनुभव को लेकर था। वास्तव में जगत का विषय अज्ञेयवाद (Agnosticism) ही है। प्रश्न यह है कि हमें अनुभव के द्वारा किन-किन वस्तुओं का ज्ञान होता है? ह्यूम का उत्तर था कि हमें केवल पृथक्-पृथक् संस्कारों और विज्ञानों का ही ज्ञान होता है जिनके बीच आत्मा कोई सम्बन्ध नहीं देख पाती। हमारे संस्कारों में केवल सादृश्य (Resemblance) एकरूपता (Constancy) और सामंजस्य (Coherence) ही स्थान पाते हैं और भ्रमवश हम उन्हें अभेदता, सातत्य और एकता के रूप में ग्रहण कर जड़-जगत की कल्पना कर लेते हैं। ह्यूम का संशय जड़-जगत के ज्ञान तक ही सीमित है। ह्यूम जड़-जगत के अस्तित्व के प्रश्न को छोड़ देता है।

ह्यूम का तीसरा संशय आत्म के विषय में है। जो बात वह जड़-जगत पर लागू करता है, वही आत्म तत्व पर भी लागू होती है। ज्ञान की दृष्टि से आत्मा नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। ह्यूम का आशय यह था कि हम किसी भी युक्ति के द्वारा आत्मा के अस्तित्व को नहीं जान सकते। उसका ज्ञान अनुभव के द्वारा भी नहीं होता है।

ह्यूम मानव मस्तिष्क के विचारों को दो भागों में बाँटता है। एक को वह विचारों का संबंध कहता है और दूसरे को तथ्य का पदार्थ।[1]

संशयवाद के सम्बन्ध में ह्यूम कहता है कि "बुद्धि और इन्द्रियों के ऊपर यह संशयवादी संदेह एक रोग है जो जड़ से कभी अच्छा नहीं हो सकता। हम चाहे जितना इसको भगाये या कभी-कभी चाहे हम अपने को इससे मुक्त समझ लें। किन्तु यह प्रतिक्षण मेरे पास आता रहता है। किसी भी दर्शन के आधार पर बुद्धि या इन्द्रियों का पक्ष लेना असम्भव है। जब हम उनके पक्ष में प्रमाण देने चलते हैं तब हम उन्हें और अधिक कमजोर पाते हैं। चूंकि विषयों पर गम्भीर और प्रगाढ़ चिन्तन करने से यह संशयवादी संदेह उत्पन्न होता है, इसलिए हम चाहे इसके पक्ष में तर्क करें या विपक्ष में, किन्तु जैसे-जैसे हम चिन्तन करते जाते हैं वैसे यह बढ़ता है। लापरवाही और असावधानी ही हमें इसकी दवा दे सकती है। इस कारण मैं बिल्कुल उन पर निर्भर करता हूँ।"[2]

ह्यूम के लिए यह कहा जाता है कि "ह्यूम अपनी प्रारम्भिक रचना व 'मानव-स्वभाव पर एक ग्रन्थ' में स्पष्ट रूप से संशयवादी थे किन्तु अपने द्वितीय ग्रन्थ 'मानव बुद्धि से एक विमर्श' में उन्होंने संशयवाद को छोड़ दिया।"[3]

---

1. Problems of Philosophy—Ram Nath Sharma, p. 85
2. मानव स्वभाव पर एक ग्रन्थ—भाग 1, खण्ड अधि. 2
3. आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास – जगदीश सहाय श्रीवास्तव, पृ० 350

संशयवाद के परिणाम स्वरूप ह्यूम की बहुत अधिक आलोचना हुई। डॉ० सिन्हा अपनी पुस्तक 'पश्चिमी दर्शन' में लिखते हैं कि "संशयवाद दर्शन की एक समझदारी प्रणाली नहीं है।"[1] जगदीश सहाय श्रीवास्तव का कथन है कि—"संशयवाद एक आत्मघाती सिद्धान्त है जो स्वयं अपने को समाप्त कर देता है। यदि हम प्रत्येक ज्ञान के विषय में संदेह व्यक्त कर सकते हैं तो स्वयं संदेहवाद के विषय में भी संदेह व्यक्त कर सकते हैं। अतः संदेहवाद के आधार पर संदेहवाद भी अक्षुण्ण नहीं रह सकता, इस प्रकार ह्यूम का संशयवाद तत्व और ज्ञान सभी का उच्छेदन कर डालता है।"[2]

समकालीन दर्शन में ह्यूम की विचारधारा ने संशयवाद को बढ़ाने में योगदान दिया और दार्शनिक संशयवाद की चर्चा चल पड़ी, इस दार्शनिक संशयवाद में आत्मा, परमात्मा अथवा भौतिक पदार्थ विषयों से सम्बन्धित चर्चा नहीं होती। वे फीकी पड़ चुकी हैं जैसे कि सुरेशचन्द्र अपने एक लेख में कहते हैं—"आत्मा, परमात्मा अथवा भौतिक पदार्थ आदि विषयों से सम्बन्धित कुछ दार्शनिक संशयवादी युक्तियाँ ज्ञान मीमांसा के क्षेत्र में फीकी पड़ चुकी हैं।"[3]

सर्वप्रथम हम नव्य विषयवाद (New Realism) अथवा वाह्यार्थवाद की चर्चा करेंगे। इसके प्रतिपादन में होल्ट, मान्टेग्यू, पेरी, पिटकिन तथा स्पालिंडग ने योगदान दिया। इन लोगों की मान्यता है कि वाह्य पदार्थों का मानस द्वारा सीधा प्रत्यक्ष होता है। वे प्रत्ययों अथवा संवितियों के माध्यम द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किये जा सकते। संशयवादी अतीत के ज्ञान को भी सार्थक नहीं मानते। ए० डी० वूजले ने अपनी पुस्तक 'ज्ञान मीमांसा परिचय' में इस प्रश्न को उठाया है कि 'क्या स्मरण कभी ज्ञान होता है?' और इसका प्रत्युतर इस प्रकार से दिया भी है :—

"अति संशयवादी का झुकाव इसका निषेधात्मक उत्तर देने की ओर होता है। उसके निषेधात्मक उत्तर का आधार उदाहरणतः यह होगा कि भविष्य वैसा ही होगा जैसा हम उसकी कल्पना करते हैं, ऐसा मानने का हमारे पास जितना हेतु है उससे अधिक प्रवल हेतु हमारे पास यह मानने का नहीं है कि अतीत वैसा ही था जैसी हमें उसकी स्मृति होती है। मेरी समझ से अति-संशयवादी स्वयं को कुछ घपले में डाल देता है और ऐसा कुछ मानता है कि किसी को किसी तरह का भी ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक वह अनिवार्यतः सत्य न हो। अर्थात् जब तक वह स्वतः व्याघात के बिना अन्यथा न हो।"

---

1. पश्चिमी दर्शन—डॉ० जे० एन० सिन्हा, पृ० 23
2. आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास—जगदीश सहाय श्रीवास्तव, पृ० 355
3. दार्शनिक त्रैमासिक वर्ष 4, अंक 4, अक्टूबर 1958, पृ० 11

"यदि संशयवादी जो कहना चाहता है वह यही है—कि जो तर्कतः अनिवार्य है उसको छोड़कर अन्य कुछ भी ज्ञान नहीं है और यदि जो वह कहना चाहता है, वह सत्य है, तो निष्कर्ष अवश्य ही यह निकलता है कि स्मरण ज्ञान का एक प्रकार नहीं है।"[1]

नव्य विषयवादी पदार्थ को मानस से बाहर एवं निरपेक्ष रूप से सीधे प्रत्यक्ष किये जाने वाला मानते हैं। वे प्रत्यक्ष के उपस्थापना सिद्धान्त (Presentative theory) को मानते हैं। डेकार्ट तथा लॉक द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्ष के पुनः स्थापन अथवा प्रतिच्छायात्मक सिद्धान्त (Representative theory of perception) को ये नहीं मानते। वे यह भी मानते हैं कि प्रधान गुण, गौण गुण तथा तृतीय कोटि के गुण (Tertiary qualities), सौन्दर्य तथा असौन्दर्य-बाह्य तथा वास्तविक हैं। उनमें से कोई भी केवल मानस के आभ्यन्तरिक प्रत्यय नहीं है। वे वास्तविक तथा वस्तुगत हैं। नव्य विषयवादी सभी प्रकार के आभ्यन्तरिक तथा बाह्य चैतन्यवाद को अस्वीकार करता है क्योंकि यह सभी चैतन्यवाद को आभ्यन्तरिक (Subjectivism) मानता है।

नव्य विषयवाद यह भी मानता है कि ज्ञानात्मक सम्बन्ध बाह्य (External relations) है। सम्बन्ध, सम्बन्धित चीजों से बाहर की वस्तुएँ हैं। वे वस्तुओं की सत्ता में विद्यमान नहीं हैं। उनका स्वभाव उनके सम्बन्धों द्वारा निर्धारित नहीं होता। यह सम्बन्ध भी वस्तुगत है। वे मानस की प्रकृति नहीं हैं। वे आत्मगत नहीं हैं। अन्तिम बात जो नव्य विषयवाद के विषय में है कि वह बौद्धिक तथा विश्लेषणात्मक है।[2]

समकालीन दर्शन में संशयवादी के रूप में तर्कनिष्ठ प्रत्यक्षवादी (Logical Positivits), संवेदनवादी (Sensationists) अथवा प्रदृश्यतावादी (Phenomenalists) भी सम्मिलित किये जाते हैं। यह लोग ह्यूम की युक्तियों का ही अनुमोदन करते हैं—जब वे यह कहते हैं कि 'संश्लेषणात्मक तर्क वाक्य का ज्ञान केवल संभाव्य है' अथवा 'ये वाक्य निश्चित ज्ञान का बोध नहीं करा सकते।' इत्यादि[3] विटगेंस्टाइन भी इसी प्रकार का दार्शनिक है जो यह मानता है कि वर्तमान काल की घटनाओं के आधार पर हम भविष्यत् काल की घटनाओं के सम्बन्ध में कोई भी

---

1. ज्ञान मीमांसा परिचय—ए० डी० वूजले, पृ० 66-67
2. पश्चिमी दर्शन—डॉ० जे० एन० सिन्हा, पृ० 49
3. दार्शनिक त्रैमासिक वर्ष 4 अंक 4, अक्टूबर 1958, पृ० 13

'निश्चय' प्रकट नहीं कर सकते। क्योंकि भविष्यत् काल की घटनाओं का वर्तमानकाल की घटनाओं से कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है।

संशयवादियों ने संश्लेषणात्मक तर्क वाक्यों को केवल अनिश्चित (Contingent) तथा सम्भाव्य ही माना है। अनिवार्य तथा निश्चित नहीं। वे यह भी कहते हैं कि मनोवैज्ञानिक प्रमाण तार्किक निष्कर्ष नहीं दे सकते। ह्यू म और विटगेंस्टाइन दोनों के अनुसार कोई तर्क वाक्य तभी निश्चित कहा जा सकता है जबकि वह अनिवार्य सम्बन्ध को व्यक्त करें।

वास्तव में संशयवादी वह दार्शनिक है जो कि दर्शन के ज्ञान को असम्भव मानता है। इस प्रकार संदेहवाद से तात्पर्य सभी के ज्ञान को स्थायी और अनिश्चित मानने से है।[1]

संशयवाद की आलोचना

ह्यूम के दर्शन में हम संशयवाद का चरम सीमा पर होना पाते हैं जिसकी आलोचना भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिकों ने की है। जगदीश सहाय श्रीवास्तव लिखते हैं—"यह मान भी लिया जाय कि अनुभववाद ज्ञान को सम्भावित करता है तो उस ज्ञान में निश्चयात्मकता, सार्वभौमिकता और अनिवार्यता का सदा अभाव रहेगा। जब हमारा ज्ञान केवल वर्तमान संवेदनाओं तक ही सीमित है और कारण-कार्य भाव सम्बन्ध भी एक सम्भाव्य सम्बन्ध ही है, तो हमें भविष्य के विषय में कोई जानकारी प्राप्त ही नहीं हो सकती। भूत और भविष्य दोनों हमारे लिए अगम्य होंगे, निश्चयात्मक ज्ञान के अभाव में हमें ज्ञान का कोई प्रतिमान ही प्राप्त नहीं हो सकता। संशयवाद (Scepticism) इसका अनिवार्य परिणाम है।"[2]

"संशयवाद एक आत्मघाती सिद्धान्त है जो स्वयं अपने को समाप्त कर देता है। यदि हम प्रत्येक ज्ञान के विषय में संदेह व्यक्त कर सकते हैं तो स्वयं संदेहवाद के विषय में भी सन्देह व्यक्त कर सकते हैं। अतः संदेहवाद के आधार पर संदेहवाद भी अक्षुण्ण नहीं रह सकता। इस प्रकार ह्यूम का संशयवाद तत्व और ज्ञान सभी का उच्छेदन कर डालता है।"

डॉ० सिन्हा का कथन है कि "संशयवाद दर्शन की एक समझदारी की प्रणाली नहीं है।"[3]

डॉ० नन्द किशोर देवराज लिखते हैं, "वास्तव में संदेहवादी युक्ति-युक्त नहीं है। जब सन्देहवादी यह कहता है कि किसी वस्तु का निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता,

1. पाश्चात्य दर्शन का ऐतिहासिक विवेचन—रामनाथ शर्मा, पृ० 161
2. आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास—ज० स० श्रीवास्तव, पृ० 355
3. पश्चिमी दर्शन—डॉ० जे० एन० सिन्हा, पृ० 23

तब वह अपने ही विरुद्ध यह मान लेता है कि वस्तुओं के विषय में इतनी बात (यह कि वे अज्ञेय हैं) निश्चय पूर्वक कही जा सकती हैं। संदेहवाद (Secpticism) को स्वयं अपने विषय में भी संदिग्ध होना चाहिए। इसी प्रकार जब अज्ञेयवादी (Agnostic) वस्तु विशेष को अज्ञेय बतलाता है, तब वह यह मान लेता है कि वस्तुओं की अज्ञेयता स्वयं ज्ञेय है। कोई वस्तु अज्ञेय है, यह भी उस वस्तु के संबंध में एक प्रकार का ज्ञान ही है। इस प्रकार सन्देहवाद और अज्ञेयवाद दोनों असंगत या विरोध ग्रस्त हैं।"[1]



र्ती और पश्चिमी दर्शन—डॉ० न० कि० देवराज, पृ० 252

अध्याय | 4

सत्य के सिद्धान्त

दूसरे अध्याय में स्वतः प्रामाण्यवाद (Self evidence theory) सिद्धान्त की चर्चा की गई थी। इस अध्याय में सत्य के सिद्धान्तों, सामंजस्यवाद (Coherence theory) जिसको अवाधतावाद या संसक्तता या संगति सिद्धान्त भी कहा जाता है, अनुकूलतावाद (Correspondence theory) जिसको संवाद सिद्धान्त का भी नाम दिया गया है और उपयोगितावाद (Pragmatic theory) जिसे अर्थक्रियावाद अथवा फलवाद भी कहा गया है, पर सत्य के परिप्रेक्ष्य में विचार करेंगे और देखने का प्रयत्न करेंगे कि दार्शनिक, सत्य के लिए किस प्रकार का मानदण्ड निर्धारित करते हैं।

सत्य का सामंजस्यवादी सिद्धान्त
(Coherence Theory of Truth)

दर्शन के इतिहास से ज्ञात होता है कि सत्य का सामंजस्यवादी सिद्धान्त का विकास हीगेल और आदर्शवादी सम्प्रदायों के प्रभाव के कारण उन्नीसवीं सदी में हुआ था। "हीगेल के अध्यात्मवाद ने सत्य ज्ञान या प्रभा के सम्वन्ध में एक नया मन्तव्य उजागर किया जिसे संगतिवाद कहते हैं। इस वाद के अनुसार उस ज्ञान या ज्ञान व्यञ्जक वाक्य को सत्य कहना चाहिए जो एक समष्टि (System) का अंग वन सकता है। व्यक्तिगत रूप से किसी वाक्य को सत्य नहीं कहा जा सकता।"[1] सामंजस्यवादी सिद्धान्त विश्व का एक तत्ववादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।[2] सत्य के इस सिद्धांत के अनुसार "संगतिवाद का मुख्य तत्व यही है कि प्रत्येक कथन या वाक्य अंशतः सत्य और अंशतः मिथ्या होता है।"[3] सत्य के इस सिद्धान्त के मतानुसार ए० सी० ईविंग की सम्मति है कि सत्य, निर्णय और कुछ अन्य, एक तथ्य या

1. पूर्व और पश्चिमी दर्शन—डॉ० देवराज, पृ० 49-50
2. Guide to Philosophy C.M.E. Joad, p. 432 "Coherence theory presupposes and supports the monistic view of the universe".
3. पूर्व और पश्चिमी दर्शन—डॉ० देवराज, पृ० 49-50

वास्तविकता के कारण नहीं बनता लेकिन स्वयं निर्णयों के बीच सम्बन्ध के कारण होता है।[1] सामंजस्यवादी सिद्धान्त में विश्वास करने वाले दार्शनिक यह भी कहते हैं कि कोई निर्णय निरपेक्ष रूप से सत्य नहीं होता क्योंकि हम कभी भी पूर्णरूप से सामंजस्य तन्त्र (System) को नहीं पा सकते।

सत्य की समस्या में सामंजस्य सिद्धान्त का योगदान विचारणीय है। यह हमें याद दिलाता है, जो बिल्कुल प्लेटोनिक आकार का है और जो सत्य से सत्य के सम्बन्ध का है। दूसरा तथ्य हमें यह याद दिलाता है, जो तथ्य के प्रत्यय से—उस प्रश्न से जिसे अन्वेषक बुद्धि ने उठाया है, सम्बन्धित है।[2]

सत्य के सामंजस्यवादी सिद्धान्त के मानने वालों में प्रत्ययवादी दार्शनिकों में स्पिनोजा, हीगेल तथा उसके अनुयायी ब्रैडले, बोसांके रॉयस के नाम प्रमुख हैं। स्पिनोजा सत्य के संसक्ता सिद्धान्त (Coherence theory) को अपने दर्शन में सर्वाधिक महत्व देता है। इन विद्वानों के अनुसार सत्य की परीक्षा कथित निर्णय के अन्य निर्णयों अर्थात् हमारे समस्त ज्ञान भंडार के शेष अंगों या अंशों के सामंजस्य में है।

निरपेक्ष आदर्शवाद के अनुसार विचार और तथ्य एक ही आध्यात्मिक निरपेक्ष के अंग हैं जो कि आत्म साक्षात्कार और आत्म पूर्ति करने वाली व्यवस्था है। दूसरे शब्दों में निरपेक्ष एक गतिशील एकता है। जो कि विविधता में सामंजस्य स्थापित करती है। अस्तु निरपेक्ष अनुभव का मुख्य लक्षण सामंजस्य है। इस प्रकार सामंजस्य ही सत्य है। वही परम आदर्श सत्य है।[3] मारग्रेट चटर्जी का कथन है कि

---

1. "According to this theory truth is not constituted to the relation between a judgement and some thing else, a fact or reality, but by the relations between judgement themselves". The fundamental questions of Philosophy A.C. Ewing, p. 55
2. The contribution of the coherence theory to the discussion of the problem of truth is considerable. It reminds us of a problem which is almost platonic in design that of the relation of truths to truth, and secondly it reminds us that the concept of fact is relative to the question posed by the inquiring mind." Philosophical Enquiries—M. Chatterji, p. 128

समकालीन दर्शन—रामनाथ शर्मा, पृ० 634

सामंजस्यवाद निरपेक्ष आदर्शवादियों की सामान्य धारणा है ।[1]

सामंजस्य अथवा संगति दो प्रकार से होती है :—

(1) तार्किक सामंजस्य और (2) तथ्यात्मक सामंजस्य । तार्किक सामंजस्य निगमन (Deduction) द्वारा किसी निर्णय के गर्भ से अन्य निर्णयों का जन्म होता है और तथ्यात्मक सामंजस्य (Factual Consistency) आगमन (Induction) में अनुमान द्वारा घटना या तथ्य का अन्य घटनाओं या तथ्य से समन्वय करके, एक नवीन निष्कर्ष निकाला जाता है ।[2] रामनाथ शर्मा ने अपनी पुस्तक 'प्राब्लेम्स ऑफ फिलासफी' में इसी तथ्य को इस रूप से लिखा है :—

"पहले ही वताया जा चुका है कि संगति दो प्रकार की है । तथ्यात्मक संगति में तथ्य जाने हुए तथ्य के आधार पर मूल्यांकित किया जाता है और तार्किक संगति में विचार अथवा निर्णय के अर्थ को तार्किक अथवा बौद्धिक रूप से परखा जाता है ।[3] यह दो प्रकार की संगति इस कारण से वताई गई है क्योंकि "संवाद सिद्धान्त (Coherence theory) के सामने समस्या यह थी कि प्रतिज्ञप्तियों (Propositions) और तथ्यों के वीच अन्तर को स्पष्ट कैसे करना चाहिए ।"[4]

ब्रैडले सत्य का सामंजस्यवादी सिद्धान्त का समर्थक था । वह यह मानता था कि सत्य को सत्य होने के लिए वास्तविकता को सत्य होना चाहिये ।[5] वह अपनी पुस्तक 'एसेज ऑन ट्रूथ एण्ड रियलिटी' में स्पष्टता से रेखांकित करता है कि "सत्य होने के लिए किसी का सत्य होना चाहिए और यह किसी का सत्य, स्वयं में सत्य नहीं है । इस स्पष्ट दृष्टिकोण की मैं पुष्टि करता हूँ,"[6] ब्रैडले के अनुसार सत्य वास्तविक अनुभव की सम्पूर्णता है जिसमें वुद्धि, भावना और इच्छा का

---

1. "The Principle of coherence is part and parcel of the whole absolutist metaphysics." Philosophical enquiry—M. Chatterji, p. 127
2. पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग—ब्र० गो० तिवारी, पृ० 69
3. Problems of Philosophy—Ram Nath Sharma, p. 396
4. ज्ञान मीमांसा परिचय—ए० डी० वूजले, पृ० 178
5. Logic, vol I - Bradley, p 41; Refer also 'Logic' value and Reality—B.K. Bhattacharya, p. 75
6. "Truth to be true, must be true of some thing, and this some thing itself is not truth. This obvious view I endorse." Essays on Truth and Reality—Bradley, p. 325

समाहित होना अर्जित तथ्य है।[1] देवराज जी ने उसी पुस्तक से उद्धृत किया है कि प्रत्येक वाक्य (Judgment) अंशतः सत्य होता है और अंशतः मिथ्या। पूर्ण सत्य किसी एक वाक्य या अनुभव में नहीं पाया जा सकता है। पूर्ण सत्य उसी सत्य को कहा जा सकता है जिसका विषय सम्पूर्ण ब्रह्मांड है।"[2]

एच० जे० पेटन ने अपनी पुस्तक 'शुभेच्छा अथवा श्रेय का संवादिता का सिद्धान्त' (The Goodwill—A study in the Coherence theory of Goodness) में ब्रैडले के मत का संशोधन प्रस्तुत किया है। "उसके मत में शुभ या श्रेय की कसौटी संवादिता या सुसामंजस्य है। सर्वगत कल्याण के अन्दर वे कल्याण हैं जो परस्पर सुसंगत है। सर्वगत कल्याण का एक अपना निकाय है। इसमें अनेक कल्याण या श्रेय है। वे परस्पर सुसंगत या संवादित हैं।"

"इस सिद्धान्त का व्यावहारिक तात्पर्य यह हुआ कि किसी मनुष्य के लिए वही वस्तु या कर्म श्रेय है जो उसके अन्य श्रेयों से संवादित हो सके। यह व्यक्ति के सभी श्रेयों में समन्वय या संवाद है।"[3]

वास्तविकता में निरपेक्ष आदर्शवादी जो सत्य के अनुरूपता के सिद्धान्त (Correspondence theory of truth) का विरोध करते हैं, यह मानते हैं कि विचार से स्वतन्त्र कुछ नहीं है, जिसके वह अनुरूप हो। वे आदर्शवादी समस्त ज्ञान को केवल भापान्तरण (Interpretation) मानते हैं और यह विश्वास करते हैं कि सत्य एक महत्वपूर्ण पूर्णता है, आपस में एक निर्धारित व्यवस्था है और आपस में निर्धारित निर्णय है।[4]

दयाकृष्ण ने सामंजस्यता के प्रश्न पर भी अपनी लेखनी चलाई है। उन्होंने मूल्य के क्षेत्र में, भापीय नियमों के किसी समवाय की सामंजस्यता का और आनुभविक सामंजस्यता के प्रकारों की चर्चा अपने लेख 'सामंजस्यता के प्रकार' में की है। एक

---

1. Problems of Philosophy—R.N. Sharma, p. 153
2. पूर्व और पश्चिमी दर्शन—डॉ० देवराज, पृ० 50
3. नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण—संगमलाल पाण्डे, पृ० 294
4. "The absolute idealist rejects the correspondence theory because he believes that there is nothing independent of thought to which it may corresponds. The Idealist regards all knowledge as concerned with mere interpretation and hold truth as 'a significant whole' a system of reciprocally determining and reciprocally determined judgement." Logic Value and Reality—B.K. Bhattacharya p. 74

विद्यार्थी को यह लेख अवश्य पढ़ना चाहिए। यहाँ हम केवल उस संदर्भ को उद्धृत करेंगे जिसमें उन्होंने सामंजस्यता के बारे में लिखा है। वे लिखते हैं कि "प्राचीन काल से सामंजस्यता (कोहरेंस) की धारणा ने ज्ञान मीमांसा सम्वन्धी विचार विमर्श में महत्वपूर्ण भाग लिया है। फिर भी, यद्यपि विचार के द्वारा इसकी विभिन्न प्रकार से व्याख्याएँ उपस्थित की गई हैं तो भी इस धारणा के भीतर ही विद्यमान गम्भीर प्रकारात्मक (टाइपल) भेदों की ओर शायद ही किसी का ध्यान गया होगा। जैसा कि अधिकांश दार्शनिक विवादों के साथ होता आया है उसी तरह इसके भी अलग-अलग प्रकारों पर अलग-अलग दार्शनिकों ने ध्यान दिया और घोषित किया कि एक ही प्रकार एकमेव 'वास्तविक सामंजस्यता है, और वही प्रकार उस विचारक के लिए महत्वपूर्ण और सार्थक बना। यदि दूसरे प्रकारों को स्वीकार भी किया गया तो अमूर्त्त (Abstract) अथवा 'अवास्तविक' बतलाया गया और इस प्रकार आरम्भ से ही उनके पारस्परिक सम्बन्धों के प्रश्नों को टाल दिया गया।"[1]

हृदयनारायण मिश्र ने अपनी पुस्तक 'समकालीन दार्शनिक चिन्तन' सामंजस्य सिद्धान्त के बारे में लिखा है कि "संगति ही सत्य का मापदण्ड है (Coherence is the criterion of truth) बुद्धिपूर्वक संदेह करने से भी सन्देह का कुछ आधार पूर्व निश्चित रहता है। वह आधार विचार द्वारा अनुभव को व्यवस्थित करने से प्राप्त होता है। सत्य में संगति है और वह पूर्ण है क्योंकि पूर्ण में ही सभी सन्देहों की निवृति हो पाती है। मूर्त्त सामान्य को मापदण्ड बनाने का आग्रह करने का तात्पर्य संगति और अव्याघात के नियम का आग्रह करना ही है।[2]

आलोचना

दार्शनिकों ने सामञ्जस्यवादी सिद्धान्त की कटु आलोचना की है शिलर ने जिस रूप से आलोचना की है उस सम्वन्ध में रामनाथ शर्मा ने निम्नलिखित रूप से वर्णन किया है :—

"बुद्धिवादी सत्य का सामञ्जस्यवादी सिद्धान्त स्वीकारते हैं। इसके अनुसार विचारों में सामञ्जस्य ही उसके सत्य की कसौटी है। शिलर के अनुसार सत्य की यह कसौटी केवल अमूर्त्त विचारों के क्षेत्र में ही लागू हो सकती है जबकि वास्तव में सत्य मूर्त्त रूप होता है। वह मानव प्रयोजन में और मानव संगठन में दिखाई पड़ता है। सत्य के सामञ्जस्यवादी सिद्धान्त में उसे स्थायी और गतिहीन मान लिया गया है। सभी अनुभवों में पूर्ण समन्वय के सत्य की हेगेलीय धारणा तो और भी भ्रमपूर्ण

1. समकालीन दार्शनिक समस्याएँ—सम्पादक यशदेव शल्य, पृ० 116
2. समकालीन दार्शनिक चिन्तन—हृदयनारायण मिश्र, पृ० 56

है क्योंकि वह वस्तु जगत में लागू नहीं होती। यदि इस कसौटी को वास्तविक जगत में प्रयोग किया जावे तो सब कहीं झूठ ही झूठ मिलेगा। क्योंकि मानव जीवन में कहीं भी पूर्ण सत्य नहीं मिलता। फिर सामञ्जस्य की स्थापना जाँच के द्वारा की जाती है और जो कभी अन्तिम नहीं होती। इसकी आवश्यकता सदैव बनी रहती है। इसीलिए कहीं भी निरपेक्ष रूप से सामञ्जस्य नहीं दिखलाया जा सकता। इस प्रकार सत् के विभिन्न सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए शिलर यह स्थापित करते हैं कि सत्य अस्थायी, सापेक्ष, प्रगतिशील और अनुभवात्मक होता है। उनके अपने शब्दों में, 'हम सत्य की परिभाषा—(1) आकारगत रूप में तार्किक मूल्य, (2) मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक ज्ञानात्मक प्रयोजन का सन्तोष, (3) भौतिक रूप से एक ऐसा सत्य का दावा जो एक काम करता है और उपयोगी है, (4) अनुभवात्मक रूप से उसको सत्य मानने के परिणामों पर निर्भर के रूप में कर सकते हैं।"[1]

वूजले द्वारा आलोचना

सामंजस्यता (Coherence) सिद्धान्त की पहली और प्रधान कठिनाई उसको समझ पाने की है। अपनी बाहरी रूप रेखा मात्र से वह इतनी अधिक अयुक्ति युक्त और इतने विचित्र परिणामों को पैदा करने वाला लगता है कि गंभीर विचार के योग्य ही नहीं दिखाई देता।"[2]

जोड द्वारा आलोचना

सी० एम० ई० जोड ने आलोचना करते हुए लिखा है—"जब तक हम सत् (Reality) को पूर्ण नहीं जानते, हम किसी विशेष निर्णय के सत्य को नहीं जान सकते। यह कथन सत्य के सामंजस्यवादी सिद्धान्त पर भी लागू होता है। इसके स्वयं के आधार पर हम कभी नहीं जान सकते कि सत्य का सामंजस्यवादी सिद्धान्त सही है।"[3]

जोकिम द्वारा आलोचना

जोकिम ने अपनी पुस्तक 'दी नेचर ऑफ ट्रूथ' में निम्न रूप से सामञ्जस्यवादी

1. समकालीन दर्शन—रामनाथ शर्मा, पृ० 299-300
2. ज्ञान मीमांसा परिचय—ए० डी० वूजले, पृ० 162
3. "The argument that, until we know reality as a whole, we can never completely know the truth of any particular judgement applies invitably to the coherence theory of truth. On its own premises, then we can never know that the coherence theory of truth is true." Guide to Philosophy C.M.E. Joad, p. 444

सिद्धान्त की आलोचना की है—"हम जब सही निर्णय की बात करते हैं तो हम पाते हैं कि एक तत्व पूर्ण रूप से मानसिक है। अब यह विचार करना कि इनमें से दोनों, मानसिक और सत्य, कैसे हो सकते हैं और फिर दूसरा तत्व, सत्य सबसे अच्छा कैसे है और किसी पर यह भी किये मानस से सम्बन्धित नहीं है।[1]

व्रजगोपाल तिवारी ने अपनी पुस्तक 'पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग' में निम्नलिखित आपत्तियाँ दी हैं:—

(अ) भ्रामक या असत्य **निर्णयों** (Judgments) में सामञ्जस्य, संगति या तारतम्य स्थापित करके इस सम्बद्धता द्वारा, एक प्रणाली (System) अथवा असत्य निर्णयों का समुदाय या कुटुम्ब खड़ा किया जा सकता है।

(ब) प्रतिभाशाली वैज्ञानिकों के कई नवीन निर्णय, आरम्भ में, पूर्व स्थापित ज्ञान से मेल न खाने पर ठुकरा दिये गये।

(स) कम से कम एक सिद्धान्त ऐसा है जिसकी परीक्षा, सामंजस्य की विधि द्वारा नहीं हो सकती, अर्थात् स्वयं सामंजस्य से प्रत्यय या सिद्धान्त की स्थापना सामंजस्य द्वारा नहीं हो पाती, अतः इस सिद्धान्त को स्वयं-सिद्ध सत्य की भाँति, यों ही मान लेना पड़ता है।[2]

पी० सी० चटर्जी का कहना है कि यदि सत्य का अर्थ सामंजस्य है, विज्ञान की प्रगति नामुमकिन है।[3]

अनुकूलता या अनुरूपता का सिद्धान्त
(The theory of Correspondence)

पेट्रिक ने अनुकूलता की परिभाषा के सम्बन्ध में कहा है कि "सत्य वह है जो यथार्थ से मेल खाएँ, जो वास्तविकता के अनुकूल हो, जो वास्तविक स्थिति का संवादी हो। इसे सत्य का संवादी सिद्धान्त कहा जाता है।"[4] इस परिभाषा के संदर्भ में कहा जा सकता है कि दार्शनिक विचार को वस्तु के अनुकूल होने को सत्य

---

1. "We found that here one of the factors was explicitly 'material', and that it was vital to determine in what sense it was both 'mental' and 'real' and again in what sense the other factor was par excellence 'real' and yet not related to mind."
2. पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग—ब्र० गो० तिवारी, पृ० 69
3. An Introduction to Philosophical analysis—P.C. Chatterjee p. 91
4. दर्शन शास्त्र का परिचय—पेट्रिक, पृ० 379

की कसौटी (Criterion of truth) मानते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार सत्य या तो हमारे विश्वास के संबंध पर या ज्ञान के संबंध पर या सत्य संसार के तथ्य पर आश्रित है।[1]

मारग्रेट चटर्जी का कथन है कि अनुकूलता का सिद्धान्त वस्तुवादियों (Realists) द्वारा माना जाता है। इस सिद्धान्त की मान्यता है कि सत्य, तथ्य के संबंध में ही परिभाषित होना चाहिए।[2]

अनुरूपता के सिद्धान्त को जॉन लॉक के दर्शन में देखा जा सकता है और वहीं से उसका उद्गम भी माना जा सकता है। लॉक सत्य (Truth) की परिभाषा देते हुए कहते हैं—"संकेतित वस्तुओं की संगति या असंगति के अनुसार संकेतों की संगति या असंगति को सत्य कहते हैं।" लॉक ने समस्त ज्ञान इन्द्रिय जन्य बोधों पर आश्रित माना है। वह यह मानता है कि ज्ञान में हम दो बोधों की अनुकूलता या प्रतिकूलता देखते हैं। यह अनुकूलता या प्रतिकूलता चार रूप धारण करती है—(1) अभिन्नता या भिन्नता, (2) सम्बन्ध, (3) सहभाव, (4) वस्तुगत सत्ता।[3] इन चारों रूपों के द्वारा सत्यासत्य का निर्धारण किया जाता है। दीवानचंद लिखते हैं, "जब हमारा बोध वास्तविकता का सूचक हो तो यह सत्य ज्ञान है, जब वास्तविकता के प्रतिकूल हो तो मिथ्या ज्ञान है। यह सत्य का अनुरूपता का सिद्धान्त है। हमारे पास इस अनुरूपता को जानने का एक ही साधन है। हम कुछ धारणाओं में संदेह नहीं कर सकते, ये इतनी स्पष्ट होती हैं। घास मुझे हरी प्रतीत होती है। यह प्रतीति मेरे लिए असंदिग्ध है, मेरे लिए इसे मानने के सिवा दूसरी सम्भावना ही नहीं।"[4] लॉक ने ज्ञान की प्रकृति का जो विवेचन किया है उससे स्पष्ट है कि उसके अनुसार सत्यासत्य का प्रश्न तभी उठता है जबकि हम प्रत्ययों का बाह्य जगत में अनुरूपता देखते हैं। जिन प्रत्ययों में यह अनुरूपता (Correspondence) होती है वे सत्य होते हैं और जिनमें अनुरूपता नहीं होती वे असत्य माने जाते हैं।

दार्शनिकों ने लॉक के अनुरूपता सिद्धान्त की आलोचना की है। रामनाथ शर्मा अपनी पुस्तक "पाश्चात्य दर्शन का ऐतिहासिक विवेचन' में लिखते हैं कि,

---

1. This maintains that truth consists in or depends on a relation between a belief or piece of knowledge and a fact in the real world—The Fundamental Questions of Philosophy—Ewing, p. 53.
2. Philosophical enquiries—Chattarjee, p. 115
3. पश्चिमी दर्शन—दीवानचन्द, पृ० 136
4. वही, पृ० 137

"लॉक का सत्य का सिद्धान्त सन्तोष-जनक नहीं है। लॉक सत्य का अनुकूलन-वादी सिद्धान्त (Correspondence theory) मानता है जिसके अनुसार किसी भी विचार की सत्यता की कसौटी यह है कि वह किसी वस्तु का कहाँ तक सही प्रतिनिधित्व करता है। परन्तु फिर लॉक के अनुसार केवल प्राथमिक विचार ही वस्तुगत है, उनसे जो जटिल विचार वनते हैं वे कहाँ तक वस्तुगत हैं यह निश्चय करने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। हम वस्तुओं को प्रत्यक्ष रूप से नहीं जानते वल्कि विचारों के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप में जानते हैं। अस्तु विचारों के सत्य की परीक्षा वस्तु स्वयं से उसकी तुलना करने से नहीं जानी जा सकती क्योंकि वस्तु स्वयं को हम नहीं जानते। इस प्रकार हमारे द्वैतीयक और जटिल विचार आत्मगत वन जाते हैं और उनकी सत्यता की एक मात्र कसौटी यही रह जाती है कि वे परस्पर कहाँ तक समीचीन और अनुकूल हैं परन्तु फिर भी इस प्रकार से स्वयं यथार्थवाद का खण्डन होता है।"[1]

लॉक के अपने दर्शन के कारण ज्ञान की सीमाएँ हैं। लॉक अनुरूपता के प्रत्यय के सत्यासत्य का निश्चय करता है। अस्तु हमारे ज्ञान की सीमायें हमारे विचारों के क्षेत्र तक सीमित हैं क्योंकि ज्ञान का अर्थ प्रत्ययों की अनुरूपता है। प्रत्ययों के अभाव में ज्ञान नहीं हो सकता।

अनुकूलता की व्याख्या करने पर पाँच वातें सामने आती हैं। प्रथम तो यह है कि अनुकूलता का सम्वन्ध अनुकृति (Copy) से है। दूसरा यह कि एक पद के तत्वों का सम्वन्ध दूसरे पद के तत्वों से एकैक संवंध है। तीसरा यह कि अनुकूलता दो पदों का सम्वन्ध है जिनकी संरचना समान होती है। चौथा यह कि अनुकूलता दूसरे और तीसरे का संवंध संयुक्त रूप है और पाँचवाँ यह कि अनुकूलता संवंध विलक्षण और अविश्लेष्ण है जैसा कि ए० डी० वूजले वताते हैं।[2]

वेरेट अपनी पुस्तक 'फिलासफी' में हीगेल को उद्धृत करता है कि "सामान्य जीवन में सत्य का अर्थ एक वस्तु का अपने विचारों से एकक्य (Agreement) है। वस्तु स्वयं में न सत्य है, न मिथ्या। वे केवल हैं अथवा नहीं हैं। सत्यता का संवंध हमारे विचार से वस्तु के साथ है।"[3]

---

1. पाश्चात्य दर्शन का ऐतिहासिक विवेचन—रामनाथ शर्मा, पृ० 298
2. ज्ञान मीमांसा परिचय—ए० डी० वूजले, पृ० 147
3. "In common life," says Hegel, "truth means the agreement of an object without conception of it" (Hegel, Logic Ch. II). Things in themselves are neither true nor false, they simply are or are not truth has to do with our thoughts about things."—Philosophy, Barret, p. 290

जोकिम अनुकूलतावादी सिद्धान्त की स्पष्ट व्याख्या करता है अनुकूलतावादी सिद्धान्त में सत्य के लिए दो दशाएँ आवश्यक मानी गई हैं, "एक तो यह कि दो भिन्न कारक माने जाने चाहिए जिनमें से प्रत्येक अनेक में से एक हो और प्रत्येक के अनेक घटकों का दूसरे घटकों में से एक-एक करके संबंध हो और दूसरा यह अनुकूलता एक चेतना के लिए होनी चाहिए ।[1] अनुकूलता सिद्धान्त के बारे में यह कहा जा सकता है कि वह सत्य के लिए एक प्रतीक है ।

आलोचना

अनुकूलता सिद्धान्त के विषय में कई दार्शनिकों ने कठिनाइयों को गिनाया है और सत्य की एक मात्र कसौटी मानने से इन्कार किया है । ब्रजगोपाल तिवारी अपनी पुस्तक, 'पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग' में निम्नलिखित कठिनाइयाँ बतलाते हैं :—

(अ) यह कथन कि अमुक निर्णय यथार्थ वस्तु के अनुकूल है तभी सिद्ध हो सकता है, जब हमें उक्त वस्तु का स्वतन्त्र ज्ञान उक्त निर्णय द्वारा नहीं, वरन् उक्त निर्णय से स्वतन्त्र विधि से प्राप्त हो । अतः हमें उक्त वस्तु का ज्ञान पहले से ही है, तो फिर उक्त निर्णय की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है और यदि उक्त वस्तु का स्वतन्त्र ज्ञान नहीं है, तब हम कैसे कह सकते हैं कि हमारा निर्णय वस्तु के अनुकूल है । कहते हैं किसी धोबिन ने अपनी बहिन को रानी का चित्र दिखाकर कहा, बहिन यह चित्र पूर्णतः रानी के ही समान है किन्तु जब बहिन ने पूछा कि क्या तुमने कभी रानी को देखा है ? तब चित्र बताने वाली ने उत्तर दिया कि मैंने आज तक रानी को नहीं देखा । तब उससे पूछा गया कि फिर तुम कैसे कहती हो कि यह चित्र पूर्णतः रानी के समान है ? इस पर उसे चुप रह जाना पड़ा । अतः जब हम यथार्थ वस्तु को केवल अपने इन्द्रिय प्रदत्त द्वारा ही देख सकते हैं, जैसा कि प्रति रूपवादी (Represcutationist) । लॉक महोदय का कथन है, तब हमारे लिए अनुकूलता की सिद्धि असम्भव सी हो जाती है ।"

(ब) "फिर अनेक भ्रम भी, कम से कम आरम्भ में, अनुभव के अनुकूल ही दिखाई देते हैं । कमरे में कोने में पड़ी हुई रस्सी सांप सी, और दूर से चमकती हुई रेत पानी की झील सी दिखाई देती है, और सूर्य पृथ्वी की परिक्रमा करते हुए दिखाई देता है ।

1. Each constituent of the one stands in one-one relation to a determinate constituent of the other," and secondly "there is truth when this correspondence is for a consciousness."—The Nature of Truth—Joachim, p. 9

अतः केवल अनुकूलता को ही लेकर प्रत्येक निर्णय के सत्य की सिद्धि नहीं की जा सकती है।"[1]

वूजले महोदय द्वारा आलोचना

वूजले महोदय ने अनुकूलता सिद्धान्त की आलोचना निम्न रूप से की है:—

"संवाद (Corrospondence) का अनुकृति सिद्धांत मुझे स्वीकार्य नहीं है। इससे भी अधिक गम्भीर वात यह है कि एक साथ प्रतिज्ञप्ति और उसके संवादी तथ्य का एक दूसरे से सादृश्य कैसे होगा, यह समझने में मैं असमर्थ हूँ, क्योंकि मेरी समझ में यह विल्कुल भी नहीं आता कि उनमें भिन्नता क्या होगी ? दो चीजों में प्रकारात्मक सादृश्य होने के लिए उनमें संख्यात: भेद होना चाहिये अर्थात् उन्हें दो चीजें होना चाहिये, और मुझे यह समझ में नहीं आता कि हमें तथ्यों और सत्य प्रतिज्ञप्तियों दोनों की आवश्यकता है।"[2]

वूजले महोदय ने अनुकूलता के सिद्धांत को गलत वताने के लिए चार वातें बताई हैं। वे लिखते हैं, "यदि संवाद सिद्धांत सत्य हो तो परिणाम क्या होंगे। यह दलील दी जाती है कि यदि वह सत्य हो तो हम कदापि किसी निर्णय को सत्यापन नहीं कर सकेंगे; क्योंकि सत्यापन के लिए उपेक्षित अनुभव स्वयं ही निर्णयों के रूप में होता है अर्थात् (1) हम अवश्य ही कुछ निर्णयों का अनुवर्ती अनुभव से सत्यापन करते हैं; (2) अनुभव स्वयं निर्णयों के रूप में होता है, (3) अतः संवाद सिद्धान्त के द्वारा आवश्यक वताए गए प्रकार के तथ्यों तक हम कदापि नहीं पहुँच सकते; (४) इसलिए यदि संवाद सिद्धान्त सत्य है तो निर्णयों का सत्यापन, जिसे हम भलीभांति जानते हैं कि हम वास्तव में करते हैं, हम कर नहीं सकते।" अतः संवाद उपरोक्त आधार पर सिद्धान्त गलत है।

शिलर द्वारा आलोचना

शिलर ने अनुकूलतावादी सिद्धान्त को भ्रामक माना है। क्योंकि इसमें यह स्पष्ट नहीं होता कि विचार सत् के रूप में होना चाहिये या सत् विचार के रूप में होना चाहिए। इसमें अनुकूलता का अर्थ स्पष्ट नहीं है कि उससे तात्पर्य प्रतिलिपि का है अथवा सहमत होने का अथवा कुछ और है। सामान्य रूप से इस सिद्धान्त का यह अर्थ लगाया जाता है कि वस्तु और विचार में अनुरूपता विचार के सत्य होने की कसौटी है। शिलर ने इस कसौटी को मानने से इन्कार करते हुए लिखा है, "मैं अपने अनुभव के अन्तर्गत किसी वस्तु की उससे परे की किसी वस्तु से तुलना

1. पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग—व्रजगोपाल तिवारी, पृ० 67
2. Logic for use—F.C.S. Schiller, p. 130

नहीं कर सकता और यह नहीं जान सकता कि उसमें अनुकूलता है अथवा पहली, दूसरी की अच्छी प्रतिलिपि है या नहीं, मकान स्वयं कैसा है, मैं यह कभी भी नहीं जान सकता क्योंकि मैं उसे केवल वैसा ही जानता हूँ जैसा कि मुझे अर्थात् मेरी इन्द्रियों को दिखाई पड़ता है।"

रसेल का अनुकूलतावादी सिद्धान्त

रसेल सामञ्जस्य सिद्धान्त के विरुद्ध यह कहता है कि सामञ्जस्य में सत्य केवल आकारिक है उसमें लेश मात्र भी सत् नहीं है।[1] वह अनुकूलतावादी सिद्धान्त का समर्थक है। इस सिद्धान्त की मान्यता यह है कि सत्य की व्याख्या तथ्य के संदर्भ में ही हो सकती है। सत्य का आधार प्रतिज्ञप्ति (Proposition) और तथ्य के बीच सम्बन्ध है। रसेल ने लिखा है कि "सत्य प्रतिज्ञप्ति की विशेष अनुकूलता जटिल तथ्यों के साथ होती है, जबकि असत्य प्रतिज्ञप्तियों की अनुकूलता अलग प्रकार की होती है।"[2] किन्तु प्रश्न है कि यह कैसे निर्धारित किया जावे कि तथ्य क्या है? लक्ष्य क्या है?—इसका निर्धारण परिचय की क्रिया द्वारा होता है। रसेल का कहना है, "हम सत्य का निर्धारण उस निर्णय के द्वारा करते हैं जिसमें हम परिचित हैं।"[3] इस निर्धारण में हमारा मानस और विशेष वस्तु, सामान्य और विशेष होते हैं।

अनुकूलता सिद्धान्त यथार्थवादियों की आणविक तथ्यों की अनेकता से सम्बन्धित है। रसेल का तत्वज्ञान आणविक तथ्यों पर बल देता है और ज्ञान की सत्यता का सम्बन्ध उसके 'परिचय द्वारा ज्ञान' से जुड़ा हुआ है। परन्तु इस सिद्धान्त की आलोचना पी० सी० चटर्जी ने की है। उनके अनुसार :—

"उनके ऐसा करने का आधार विश्वास है कि अनुकूलता तथ्य और तर्क वाक्य (Proposition) के बीच अर्थहीन है, या तो दोनों में तादात्म्य होना चाहिए या दोनों एक दूसरे से भिन्न होना चाहिए अथवा एक दूसरे का विकल्प होना चाहिए,

---

1. Russell raises the objection against the coherence view of truth by saying that coherence may be purely formal without the least touch with reality." Logic. Value and Reality—H.M. Bhattacharya, p. 152
2. True propositions have a certain correspondence with complex facts, while false propositions have different correspondence."
3. We can only be assured of the truth of our judgement in virtue of something with which we are acquainted."

अनुकूलता को नामुमकिन बनाता है।[1]

यथार्थवाद सत्य को विचार और तथ्य, आत्मगत और वस्तुगत के बीच अनुरूपता के रूप में ही देखता है। चाहे वे यथार्थवादी हों अथवा नव-यथार्थवादी दोनों यह मानते हैं कि वस्तु में अनेक गुण होते हैं किन्तु सत्य चाहे वह यथार्थवादियों का हो अथवा समीक्षात्मक यथार्थवादियों का, सत्य अपने आप को पूर्ण रूप से प्रकट नहीं करता, ऐसा भट्टाचार्य जी का कथन है।[2]

सत्य का अर्थक्रियावादी सिद्धान्त
(Pragmatic theory of Truth)

अर्थक्रियावाद के समर्थक विलियम जेम्स और डी. वी. हैं जो उपयोगितावाद के सिद्धान्त को मानते हैं। अर्थक्रियावादी यह मानते हैं कि सत्य का निर्माण मनुष्य के द्वारा होता है। उनके लिए सत्य वही है जो मनुष्य के लिए लाभदायक हो। इस कारण से वे किसी निरपेक्ष सत्य में विश्वास नहीं करते। इसका अर्थ यह है कि वे एक ओर आदर्शवादियों से और दूसरी ओर यथार्थवादियों से अपना भिन्न मत रखते हैं। उन्होंने जीवन को महत्व दिया है। पेट्रिक जब अर्थक्रियावादियों के योग-दान की बात कहते हैं तब लिखते हैं। "दर्शनशास्त्र को स्वर्ग से उतार कर मनुष्य के जीवन तथा घर तक ले जाने में इसकी सेवा सराहनीय रही।" दूसरी बात यह कि उसने मनुष्य के मन की सृजनात्मक शक्ति अथवा सृजनात्मक बुद्धि की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर दिया है।" हृदयनारायण मिश्र इस सन्दर्भ में कथन करते हैं कि "जो दर्शन बुद्धि और तर्क के सहारे हमें जीवन से अन्यत्र ले जाने का प्रयास करता है, अर्थक्रियावादी उसे दार्शनिक नहीं मानते हैं। उनकी दृष्टि में दर्शन वही है जो जीवन की गुत्थियाँ सुलझाने में सहायता करें और हमारे अनुभव तथा व्यवहार को परिमार्जित करें।"[3]

अर्थक्रियावादियों की दृष्टि में सन्तोषप्रद कार्य, कर्त्तव्य का पालन, सफलता की ओर निर्देश होना ही सत्य के चिह्न हैं। कार्यगत होना ही सत्य की कसौटी

---

1. "Their ground for doing so is the belief that to talk of correspondence between facts and proposition is meaningless either the two must be identical or else different from each other and each alternative, it is hold, makes correspondence impossible."
2. दर्शन शास्त्र का परिचय—पेट्रिक, पृ० 385-386
3. समकालीन दार्शनिक चिन्तन—हृदयनारायण मिश्र, पृ० 178

नहीं है बल्कि सत्य का स्वरूप है। एक अर्थक्रियावादी का कथन है कि सत्य की उपयोगिता ही एकमात्र निधि है। सत्य वही है जो कार्यगत हो। जेम्स का कथन है कि—

"वास्तविक विचार वे होते हैं जिन्हें हम समझ सकते हैं, लागू कर सकते हैं, जिसकी पुष्टि की जा सकती है और जिन्हें प्रमाणित किया जा सकता है। झूठे विचार वे होते हैं जिनके साथ ऐसा नहीं हो सकता है।"[1]

अर्थक्रियावादियों की यह मान्यता है कि यथार्थता पूर्णतः भौतिक तथ्य अथवा मानसिक तथ्य नहीं कहा जा सकता। यथार्थता में यह दोनों हैं। परिवर्तन ही यथार्थता है। एक दृष्टि से वह मन है और दूसरी दृष्टि से वह भौतिक है। इसी कारण से उन्होंने आदर्शवादियों के सिद्धांत को अस्वीकार किया है। उपयोगिता अथवा सफलता दोनों को सत्य के स्वरूप की कसौटी के रूप में स्वीकार किया है।

अर्थक्रियावादी निर्णय के व्यावहारिक पक्ष पर बल देते हैं। क्योंकि सत् (Reality) कोई स्थायी प्रणाली नहीं है। न ही वह स्थूल वस्तुओं का जोड़ है किन्तु वे मनुष्य के उपयोगार्थ बनाई गई हैं। शिलर कहता है, "सत् का अर्थ सत् किस उपयोग के लिए, कौन से साक्ष्य के लिए? कौन से उपयोग के लिए? इसका अर्थ यह है कि सत्य, विचार और सत् में अनुकूलता नहीं हो सकती।'[2]

अर्थक्रियावादियों ने उपयोगिता को परीक्षणीय (Verifiable) के रूप में ग्रहण किया है। उपयोगितावादी कसौटी यही है कि "बिना परीक्षण के कोई निर्णय नहीं कहा जा सकता।"[3] डी. वी. का कथन भी इसी प्रकार का है कि सत्य का अर्थ केवल एक ही है अर्थात् 'परीक्षित', इसके अतिरिक्त सत्य का कोई अर्थ नहीं है।[4] वास्तविकता में सत्य के सम्बन्ध में यही कहना चाहते हैं कि "सत्य हमारे मानवीय प्रत्ययों और हमारे शेष अनुभवों के बीच एक सम्बन्ध मात्र है।"[5]

1. दर्शन शास्त्र का परिचय—पेट्रिक, पृ० 383
2. "Real means real for what purpose, to what end, to what use ? It follows, therefore that truth can not be any correspondence between thought and Reality." Logic, Value & Reality—B.K. Bhattacharya, p. 77
3. "A judgement is made true by being verified, apart from verification, it can not be said to be true or erroneous". James
4. "The true means the verified and means nothing else."
5. "Truth merely a relation between our human ideas and the rest of our experience."

बुद्धिवाद और अर्थक्रियावादियों में विशेष भेद यह है कि बुद्धिवादियों के लिए सत् आदिकाल से तैय्यार और पूर्ण है जबकि अर्थक्रियावादियों के लिए सत् अभी भी बनने की अवस्था में है।[1]

"सत्य एक प्रकार की उपयुक्तता है।" अर्थक्रियावादियों का यह मत भयंकर आलोचना तथा अस्वीकृति का शिकार बना। ए० सी० ईविंग ने लिखा है कि "सत्य की उपयोगितावादी परिभाषा में निम्न रूप से आपत्तियाँ हैं, (1) यह अच्छी तरह समझ में आने योग्य है कि विश्वास सही ढंग से कार्य करेगा और फिर भी सही न हो अथवा बुरे रूप से कार्य करे और फिर भी सही हो, (2) सही विश्वास बहुधा एक से कार्य करते हैं, यह इसलिए कि प्रथमतः वे सत्य हैं, (3) किन्तु जो एक मनुष्य के लिए कार्य करता है, वह दूसरे के लिए नहीं करता।[2] इस कारण उपयोगितावादी सिद्धान्त गलत है।

डॉ० ब्रजगोपाल तिवारी निम्न रूप से उपयोगितावादी कसौटी की आलोचना करते हैं:—

(अ) प्रत्येक दशा में सत्य (Verity) का निर्णय परीक्षण द्वारा नहीं हो सकता। प्रकृति पर मनुष्य का पूर्ण अधिकार नहीं है। इसी प्रकार भूतकाल तथा भविष्यकाल की कई घटनाएँ मानव प्रयोगशाला के अन्दर नहीं लायी जा सकतीं।

(ब) उपयोगिता की अनुभूति में धोखा भी हो सकता है। अंकगणित में कभी-कभी प्रक्रिया (Process) गलत होने पर भी क्रियाफल ठीक निकलता है। कई धोखेबाजों व सट्टेबाजों की भविष्यवाणी सही निकलती है। भारतीय दर्शन में बौद्धों द्वारा प्रतिपादित सत्य की इस कसौटी के विरुद्ध अनेक युक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं।

---

1. "The essential contrast is that for rationalism reality is ready made and complete from all eternity, while for pragmatism it is still in the making and awaits parts of its completion from the future." Pragmatism—James, p. 255
2. "The pragmatic definition of truth is open to following objection. (a) It is quite conceivable that a belief might work well and yet not be true or work badly and yet be true (b) while true beliefs usually work, this is usually only because they are first true (c) what works for him at one time may not work for him at another." The fundamental Questions of Philosophy—A.C. Ewing, p. 56

(स) इस मत के समर्थक इस बात पर बल देते हैं कि सत्य की परीक्षा सन्तोषप्रद व्यवहार (Satisfactory working) तथा सफल अनुभव में है किन्तु दार्शनिक दृष्टि से, ये समर्थक अनुभव शब्द की तथा संतोषप्रद व्यवहार की स्पष्ट व्याख्या नहीं कर पाये हैं।"[1]



---

1. पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग—तिवारी, पृ० 68

अध्याय | 5

सत् सम्बन्धी समस्याएँ

✓एक तथा अनेक की समस्या

विश्व में दर्शन शास्त्र के अध्ययन में तत्व की समस्या आदिकाल से रही है। विश्व के निर्माण में क्या हम एक तत्व पाते हैं अथवा अनेक तत्व इस प्रश्न के साथ एक दूसरा प्रश्न भी जुड़ा हुआ है कि इन तत्त्वों का स्वरूप कैसा है? क्या यह तत्त्व भौतिक है अथवा आध्यात्मिक? दर्शनशास्त्र में 'तत्त्व' का वर्णन 'द्रव्य' शब्द के अन्तर्गत किया गया है। प्रायः सभी दार्शनिक या अधिकांश दार्शनिक इस तथ्य से सहमत नहीं हो पाये हैं कि 'तत्त्व' शब्द का क्या अर्थ है? इस कारण चिरकाल से दार्शनिकों के वीच विवाद वना हुआ है।[1]

कुछ दार्शनिकों का विचार है कि दार्शनिक 'तत्व' अथवा, सत्ता (Existence) वही माना जा सकता है जिसमें सवसे अधिक यथार्थता हो (That which is most real) अन्य दार्शनिक 'तत्त्व' उसे मानते हैं, जो अनित्य और नश्वर परिवर्तनों का नित्य तथा शाश्वत आधार व अधिष्ठान हो। ऐसे भी दार्शनिक हैं जो इस विश्व की अन्ततम् इकाइयों (Ultimate units) अथवा विश्व के पदार्थों के सामान्य सार (Common essence) को 'तत्त्व' कहते हैं।

सत् सम्वन्धी समस्या आदर्शवादियों, वस्तुवादियों और भौतिकवादियों के दृष्टिकोण से उत्पन्न समस्या है। संख्या के आधार पर तीन वाद दृष्टिगोचर होते हैं जिन्हें हम एक तत्ववाद (Monism), द्वैतवाद (Dualism) और अनेक तत्ववाद अथवा वहुतत्ववाद (Pluralism), के नाम से पुकारते हैं। परन्तु स्वरूप की दृष्टि से इन्हें अध्यात्मवाद (Idealism), जड़वाद (Materialism) और तटस्थ अथवा निष्पक्षवाद (Neutralism) के नाम से दर्शन जगत में जाना जाता है। अध्यात्मवादी और भौतिकवादी एक तत्व का प्रतिपादन करते हैं जिन्हें चार शाखाओं में विभाजित किया जाता है :—

---

1. पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक-युग—ब्र० गो० तिवारी, पृ० 104

(1) निराकार अथवा अमूर्त एक तत्त्ववाद अथवा सर्वेश्वरवाद (Abstract monism or paneutheism) जिसके प्रवर्तक स्पिनोजा हैं।

(2) साकार एक तत्त्ववाद अथवा एकत्व-अनेकत्व समन्वयवाद (Concrete monism or paneutheism) जिसके प्रवर्तक हीगेल हैं।

(3) जड़वादियों द्वारा प्रतिपादित एक तत्त्ववाद (Materialistic monism)।

(4) निष्पक्ष अथवा तटस्थ एक तत्त्ववाद (Neutral monism) जिसके प्रवर्तक जर्मन दार्शनिक शेलिंग (Schelling) हैं तथा आधुनिक काल के नव्य-वस्तुवादी हैं।

निराकार अथवा अमूर्त एक तत्त्ववाद और जड़वादी एक तत्त्ववाद में विरोध है। उनमें समानता का एक ही आधार है कि वे दोनों एक ही आधार में विश्वास करते हैं कि वास्तविकता एक ही है। आदर्शवादी एक मनस अथवा आत्मा की सत्ता में विश्वास करते हैं। वास्तव में अन्तिम विश्लेषण में जो है वह मनस की प्रकृति है। आदर्शवादी जगत की यांत्रिक विवेचना का विरोध करते हैं जबकि भौतिकवादी भौतिक पदार्थ के आधार पर एक तत्त्ववाद को मान्यता देते हैं। के० दामोदरन लिखते हैं कि "एक तत्त्ववाद इस जगत की व्याख्या एक ही आधार से करता है या तो पदार्थ के आधार से, या आत्मा के आधार से। इस तरह दो प्रकार के एक तत्व वाद की सम्भावना सामने आती है। भौतिकवादी एक तत्ववाद और आदर्शवादी एक तत्ववाद, दोनों ही इस जगत को केवल एक तत्त्व से पूर्णतः विकसित मानते हैं।"[1]

वास्तव में "एक तत्त्ववाद एक दार्शनिक अवधारणा है। इस संसार और प्रकृति की विविध घटनाओं की व्याख्या एक ही पदार्थ के आधार पर करता है जिससे प्रत्येक वस्तु का उद्भव हुआ और जो अन्त में उसी में विलीन हो जायेगी। वही इस संसार के गठन का आदि और अन्त है, वही उसका आरम्भ बिन्दु और उसका अन्तिम लक्ष्य है।"[2]

आदर्शवादी एक तत्त्ववाद

आदर्शवादी एक तत्त्ववाद की मान्यता है कि इस विश्व का आधार आत्म अथवा चेतन तत्त्व है और भौतिक जगत की उत्पत्ति का स्रोत आध्यात्मिक है। पाश्चात्य दर्शन में फिशरे, शेलिंग, ब्रैडले, बोसांके, जोशिया रायस एक तत्त्ववादी दार्शनिक हैं। स्पिनोजा भी एक तत्त्ववादी दार्शनिक है जिसका मत अमूर्त एक तत्त्व-

1. भारतीय चिन्तन परम्परा—के० दामोदरन, पृ० 293
2. वही, पृ० 292

वाद या तटस्थ एक तत्त्ववाद (Abstract monism or Neutral monism) कहा जाता है। स्पिनोजा के अनुसार सब ईश्वर है और ईश्वर सब हैं (Auis God and God is all) को आत्मगत मानता है जबकि हीगेल के अनुसार विज्ञान आत्मगत न होकर वस्तुगत है।

मनुष्य अपने जीवन में एक तत्व और अनेक तत्व दोनों का अनुभव करता है; और दोनों को विश्व में पाता है। उदाहरणार्थ, विश्व भर में प्रकृति की समरूपता (Coniformity of nature) दृष्टिगोचर होती है, अर्थात् विश्व भर में एक प्रकार का एकत्व है किन्तु साथ ही साथ, इसी विश्व में हम भिन्न-भिन्न प्रकार में पदार्थ भी पाते हैं, अर्थात् इस विश्व में नानात्व भी है। हीगेल का कथन है कि नानात्व में एकत्व तथा एकत्व में नानात्व (One in many and many in one) स्थित है।[1]

हीगेल के सिद्धान्त में मानसिक तथा भौतिक जगत एक दूसरे से सम्बन्धित और एक प्रकार से एक ही है। जिस प्रकार मानसिक जगत में विकास होता है। उसी प्रकार भौतिक जगत में भी परिवर्तनों द्वारा विकास होता है। प्रश्न यही है कि वास्तविकता क्या है? हीगेल का उत्तर है कि वास्तविकता विचार अथवा तर्क बुद्धि है। जगत एक महान् विचार प्रक्रिया है। वास्तविकता को जानने के लिए नियमों को जानना इसकी आवश्यकता है। इस कारण वह एक तत्व और नानातत्व दोनों की रक्षा करते हुए समन्वय करता है। ऐसे दार्शनिक सिद्धान्त में साधारण पुरुष तथा वैज्ञानिक दोनों के अनुभवों का समन्वय हो जाता है। निराकार एक तत्व वाद (Abstract monism) एकांगी है जो अनेकता को निगल जाता है, दूसरी ओर बहुतत्त्व वाद (Pluralism) एक तत्त्ववाद की अवहेलना करता है इस कारण वह भी एकांगी है, किन्तु साकार एक तत्त्ववाद दोनों को समन्वित करता है और साथ ही विश्व के विकास की क्रिया को सुन्दर ढंग से समझने में सफल होता है। हीगेल जगत को केवल विकास की प्रक्रिया मात्र ही नहीं मानता, किन्तु विचार की प्रक्रिया भी मानता है। अतः यह सिद्धान्त अन्ततम तत्व की संख्या समझने की सबसे उत्तम पद्धति प्रदर्शित करता है।

निष्पक्ष एक तत्त्ववाद (Neutral monism)

निष्पक्ष अथवा तटस्थवाद सिद्धान्त यह प्रतिपादित करता है कि वास्तविकता अथवा सत् न तो मनस है और न द्रव्य, किंतु एक उपादान है। स्पिनोजा को भी निष्पक्ष एक तत्त्ववादी दार्शनिक की कोटि में रखा जाता है किंतु वर्तमान में नव्य-

1. पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग—ब्र० गो० तिवारी, पृ० 241

आदर्शवादियों के अनुसार सत् एक है, बाकी सब युग (Illusory or Phenomenal) है।

आदर्शवादियों द्वारा जो एक तत्ववाद के पक्ष में दलीलें दी जाती हैं उनमें से हम पी० टी० राजू की दलील को लें। क्योंकि "पी० टी० राजू पदार्थ को केवल एक दृष्टिभ्रम, एक मानक अथवा एक मूल्य तक सीमित कर देने की कोशिश करते हैं।"[1] पी० टी० राजू का कथन है कि "हमारे लिए जो पदार्थ है वह विज्ञान द्वारा खोज निकाले गये आदर्शवादी पदार्थ के कारण ही पदार्थ प्रतीत होता है। पदार्थ के बारे में हमारी कुल अवधारणा का वह पूर्वानुमान है। उसका अस्तित्व है और उसके कारण ही दूसरे का अस्तित्व सम्भव हुआ है। उस (आदर्श पदार्थ) के बिना इसका अस्तित्व सम्भव ही नहीं है, यह बताना जरूरी नहीं। हम कह सकते हैं कि वह विज्ञान का मात्र एक मानक अथवा एक मूल्य है।"[2]

हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एक तत्ववाद के अनुसार संसार में जो कुछ विविधता या अनेकता दिखलाई पड़ती है वह एक ही तत्व के विभिन्न रूप है और उन्हें ज्यों का त्यों सत्य समझना भ्रम है। हम अनुभव करते हैं कि सृष्टि में वनस्पति जगत, पशु जगत और मनुष्य में सब कहीं एक व्यवस्था दिखलाई पड़ती है और यह व्यवस्था उस आध्यात्मिक तत्व के कारण ही है।

स्पिनोजा एक तत्ववाद जो अमूर्त है, ईश्वर में विश्वास करता है। इस ईश्वर के सिवाय कोई अन्य पदार्थ नहीं है। स्पिनोजा के शब्दों में, "यदि पदार्थ वह है जिसको स्वयं अपने अतिरिक्त अस्तित्व के लिए किसी अन्य की आवश्यकता नहीं पड़ती, यदि ईश्वर ही पदार्थ है और अन्य सब उस पर निर्भर है तब स्पष्ट है कि ईश्वर के बाहर कोई भी पदार्थ नहीं हो सकता। तब विचार और विस्तार भिन्न-भिन्न पदार्थों के लक्षण नहीं हो सकते बल्कि वे ईश्वर में मिल जाते हैं, वे एक अकेले स्वतन्त्र कारण और समस्त गुणों तथा कार्यों के वाहक के लक्षण हैं। उसका एक तत्व जिसमें कि समस्त वस्तुएँ अपना अतित्व पाती हैं।"

हीगेल का साकार एक तत्ववाद (Concrete monism)

हीगेल के अपने साकार एक तत्ववाद (Concrete monism) में एकत्व और अनेकत्व की समस्या का सुन्दर समन्वय किया गया है। हीगेल के दर्शन को वस्तुगत प्रत्ययवाद (Objective idealism) भी कहा जाता है क्योंकि उसका बर्कले से भेद है। बर्कले विज्ञान विषयवादियों (Neo-realists) द्वारा इस सिद्धान्त को महत्व दिया जाता है। इस सिद्धान्त के बारे में सिन्हा महोदय का कथन है कि, "नव्य-विषय-

---

1. भारतीय चिन्तन परम्परा—के० दामोदरन, पृ० 296-297
2. Idealistic thought of India—P.T. Raju p. 85-86

वादियों का कथन है कि एक निष्पक्ष (न पुद्गल और न मनस) तत्व है जो भिन्न-भिन्न संदर्भों में तथा भिन्न-भिन्न सम्बन्धों में कभी भौतिक तथा कभी मानसिक प्रतीत होता है। देश-काल के जगत में दूसरी चीजों के सम्बन्ध में एक चीज भौतिक वस्तु कहलाती है, वही स्नायु-मण्डल के सम्बन्ध में जो उस पर प्रतिक्रिया करती है एक मानसिक तत्व वाली कहलाती है। परिस्थिति के वे अंग जिन पर शरीर की विशेषतया प्रतिक्रिया नहीं होती है वे मानसिक कहलाती हैं। यह सिद्धान्त निष्पक्ष एक तत्ववाद कहलाता है। कुछ निष्पक्ष सेवाएँ हैं जो विभिन्न सम्बन्धों में कभी भौतिक तथा कभी मानसिक होती हैं।[1]

एक तत्ववाद की आलोचना

एक तत्ववाद अथवा सर्वेश्वरवाद अथवा निष्पक्ष एक तत्ववाद एक ही तत्व पर इतना अधिक वल देता है कि वह अनेकत्व को समाप्त ही कर देता है। जवकि वास्तविकता अपने में अनेक तत्वों का भी ज्ञान मानव को प्रदान करती है।

एक तत्ववाद इस जगत की यथार्थता (Reality) को स्वीकार नहीं करता वह इसे भ्रम घोषित करता है और इस प्रकार वह जगत को ईश्वर में लीन कर देता है। सर्वेश्वरवादी जगत के अस्तित्व को स्वीकार तो करते हैं किन्तु इसे भ्रम बताते हैं। स्पिनोजा के इस मतानुसार विकासवाद के समस्त सिद्धान्तों की अवहेलना होती है क्योंकि उसी का कथन है कि "विश्वपूर्ण है और इसलिए पूर्ण में विकास तथा उन्नति की सम्भावना धूमिल हो जाती है।

संसार में मानव चेतना के कारण विकास हुआ है एवं साथ ही मानव नैतिक-चेतना की वातें भी करता है किन्तु एकतत्ववाद मानव चेतना और नैतिक चेतना दोनों की उपेक्षा करता है।

एक तत्ववाद के विरुद्ध सवसे वड़ी युक्ति कृति स्वातन्त्र्य (Free-will) की है। कहा जाता है कि यदि ब्रह्म ही सव कुछ है तो मनुष्य कहाँ रहा। यदि सव वातें पहले से ही निर्धारित हैं तो उद्योग और पुरुषार्थ के लिए कहाँ स्थान है ?[2]

भौतिकवादी एक तत्ववाद (Matrialistic monism)

भौतिकवादियों ने पुद्गल को ही वास्तविकता का स्वरूप माना है। उसी के कारण जगत की वास्तविकता दिखलाई पड़ती है। कहा जाता है कि पुद्गल-वास्तव में तो विश्व की प्रत्येक वस्तु अनेक अतिसूक्ष्म छोटे-छोटे कणों से निर्मित है, जिन्हें परमाणु कहा गया और इन परमाणुओं के संगठन के कारण ही वास्तविकता

1. पश्चिमी दर्शन — डॉ० जे० एन० सिन्हा, पृ० 168
2. पाश्चात्य दर्शन का इतिहास—गुलावराय, पृ० 355



की उत्पत्ति हुई है। इन परमाणुओं में गत्यात्मकता होती है, इनमें विस्तार, आकार तथा प्रकार होता है। वे रिक्त स्थान अथवा आकाश में निरन्तर गतिमान रहते हैं तथा उन्हीं के संगठन से अनेक वस्तुओं का निर्माण होता रहता है। ग्रीक दर्शन से लेकर आज तक भौतिकवादी विचारों पर बहस होती आई है जिसके सम्बन्ध में हम भौतिकवाद के संक्षिप्त इतिहास में चर्चा करेंगे। आज के युग में भौतिकवाद के प्रवर्तक एवं समर्थक कार्ल मार्क्स हैं। इस सम्बन्ध में दामोदरन महोदय लिखते हैं कि, "एकतत्ववाद यथार्थ को उसके अविभाज्य रूप और उसके मूलभूत एकता को समझने का प्रयत्न करता है। आदर्शवादी एकतत्ववाद और द्वैतवाद दोनों को अस्वीकार करता हुआ मार्क्सवाद-भौतिकवादी एकतत्ववाद का, संसार की भौतिक एकता का, जिसके अनुसार समस्त सांसारिक व्यापारों का उद्‌भव अनादि, अनश्वर, अपरिमित और शाश्वत रूप से परिवर्तनशील पदार्थ से हुआ है, समर्थन करता है।"[1]

भौतिकवाद का संक्षिप्त इतिहास

ग्रीक दर्शन में थेल्स प्रथम व्यक्ति था जिसने 'जल' को मूल तत्व माना था और सभी पदार्थों को उससे उत्पन्न माना था। थेल्स के समान ही उसका शिष्य अनेक्सीमेंडर (Anaximanition) भी भौतिकवादी था। उसने किसी सीमित द्रव्य (जैसे थेल्स ने जल को माना) को मूलतत्व नहीं माना। तीसरे भौतिकवादी अनेक्सीमेन्स (Anaxamines) हैं इन्होंने 'वायु' को मूलतत्व माना। यह तीनों व्यक्तियों ने अपनी-अपनी विचारधारा के अनुसार भौतिकवाद का जन्म दिया।

आगे चलकर हेराक्लाइटस नामक दार्शनिक हुआ जिसने केवल 'अग्नि' को मूलतत्व माना। एम्पीडोक्लस (Empedocles) ने चार भौतिक तत्वों को मूलतत्व माना। यह एक प्रकार का उसका अनेक तत्व भौतिकवाद था।

आधुनिक भौतिकवादी जड़ तत्व को प्रधानता देते हैं। वे यह मानते हैं कि जड़ तत्व में ही गति निहित है। वे भौतिक तत्व के स्थान पर इसकी शक्ति और गति पर अत्याधिक बल देते हैं क्योंकि भौतिकवाद का सिद्धान्त है कि पुद्‌गल ही सत्ता का एक और एकमात्र प्रकार है प्राथमिक द्रव्य है। विश्व भौतिक जगत है और अनुभव के समस्त विषय पुद्‌गल से ही बने हैं। मनस पुद्‌गल का ही रूप अथवा कार्य है।

भौतिकवाद के कई प्रकार हैं जैसे प्रकृतिवाद, यांत्रिकवाद आदि। प्रकृतिवाद ने भौतिकवाद शब्द का स्थान ले लिया है। सामान्यतः प्रकृतिवाद भौतिक विज्ञानों पर विशेष कर भौतिकी और रसायन पर बल देता है। यांत्रिकवाद भी वर्तमान

---

1. भारतीय चिन्तन परम्परा—के० दामोदरन, पृ० 298

शताब्दी में भौतिकवाद का एक रूप है। हम डार्विन के विकासवाद से परिचित हैं जिसमें मानव जाति के उत्पत्ति की ओर विश्व का ध्यान आकर्षित किया है। सत्रहवीं शताब्दी में अंग्रेजी, दार्शनिक, टॉमस हॉब्स भौतिकवाद को पल्लवित किया। उसके वाद कई भौतिकवादी हुए जिनमें अर्नेस्ट हेगेल का नाम प्रसिद्ध है। उसने भी यही कहा कि पुद्गल ही एकमात्र सत्य है और पदार्थ की एकता पर वल दिया। उसने भौतिक जगत के दो नियमों का महत्व दिया। पहला नियम है शक्ति और द्रव्य की अक्षुण्णता (Conservation of energy and substance) दूसरा नियम है 'सार्वभौम विकास' (Universal law of evolution) उसने द्रव्य के नियम को पुद्गल तथा ऊर्जा का, ईथर तथा अस्थिर परमाणुओं से युक्त अनंत काल, अनंत दिक् का, अकार्वनिक पुद्गल से जीवन के स्वतः जनन होने का और एक प्रकार से प्रोटोप्लाज्म का, जो चेतन मनस का स्थान है और जिसे साइकोप्लाजम कहा जाता है, का केवल एक कार्य माना है।[1]

मनोविज्ञान के क्षेत्र में जॉन वी० वाटसन का तथा मेक्स एफ० मेयर का नाम प्रसिद्ध है जिन्होंने पूर्णतः वस्तुनिष्ठ प्रणाली को अपनाया है और भौतिकवादी सिद्धान्त का समर्थन किया है।

कॉर्ल मार्क्स का मत द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical materialism) के नाम से जाना जाता है। द्वन्द्वात्मकता को उसने हीगेल से ग्रहण किया और 'द्वन्द्वात्मक विश्व प्रक्रिया' (World process) का विशेष सिद्धान्त दिया। उसके अनुसार विश्व एक समष्टि है जिसके सभी अंग परस्पर सम्बद्ध है। विश्व परिवर्तनशील, विकासोन्मुख और नित्य नूतन होने वाला घटना प्रवाह है।

आधुनिक वैज्ञानिक भौतिकवाद

वर्तमान में वैज्ञानिकों में अपने अनुसंधानों द्वारा पुद्गल विषयक चिन्तन में उथल-पुथल मचा दी है। इन्होंने जड़ तत्व को तो प्रमुख माना किन्तु जड़ तत्व में जड़त्व को अस्वीकार कर दिया। पहले भौतिकवादी मानते थे कि परमाणु भी अविभाज्य है किन्तु वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया कि परमाणु भी विभाज्य (Divisible) है। अव परमाणु को तोड़ने पर दो तत्व मिलते हैं, जिन्हें प्रोटोन (Proton) और इलेक्ट्रोन (Electron) कहा जाता है। ये तत्व विद्युत तरंगें हैं। आगे चलकर वैज्ञानिकों ने यह भी वताया कि प्रोटोन को तोड़ने पर न्यूट्रोन (Neutron) और पोजिट्रोन (Positron) दो और तत्व मिलते हैं। इस प्रकार ये चार तत्व पुद्गल के मुख्य कारण हैं।

इस सिद्धान्त के संबंध में यह आरोप है कि भौतिकवादी किसी प्रकार के

1. दर्शन का परिचय—पेट्रिक, पृ० 204

चैतन्य, संवित, मानस अथवा आत्मा जैसी किसी सत्ता में विश्वास नहीं करते और न ही इन्हें प्राथमिकता देते हैं। चैतन्य अथवा मानसिक तत्व तो पुद्गलों का संघात ही है।

आलोचना

एक तत्ववाद की तरह भौतिकवाद भी एकांगी सिद्धान्त है। इसके विरुद्ध मुख्य आरोप यह ही है कि पुद्गल स्वयं किस प्रकार विकसित होता है। इस तथ्य को समझने में यह वाद असमर्थ सिद्ध हुआ है। यह माना जाता है कि भौतिकवाद अप्रगतिशील है, क्योंकि मानव भौतिक तत्वों का ही पुंज नहीं है।

दूसरा आरोप यह है कि यह धारणा बनाने में असमर्थ है कि मनुष्य का चैतन्य (Consciousness) तथा मानस (Mind) तथा प्राण (Life) जड़ पुद्गल में किस प्रकार उत्पन्न होते हैं? क्योंकि निर्जीव से जीव की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

द्वैतवाद

ग्रीक दर्शन के इतिहास में द्वैतवाद की झलक देखी जा सकती है। प्लेटो के अनुसार 'शिव का प्रत्यय (The Concept of Good) और स्वयं स्थित पुद्गल (Matter) संसार के दो अन्तिम तत्व हैं। शिव का प्रत्यय जगत को पूर्ण सुन्दर बनाना चाहता है किन्तु पुद्गल तत्व इसमें बाधा डालता है। अरस्तू के अनुसार ईश्वर अथवा शिव का प्रत्यय शुद्ध क्रिया है और पुद्गल पूर्णतया निष्क्रिय है।

द्वैतवादी विचारधारा साधारण बुद्धि के बहुत निकट है क्योंकि जीवन में भी दिखायी देता है कि मनस और शरीर यह दो तत्व नितांत भिन्न हैं। अतः उन विचारकों को हम द्वैतवादी कहते हैं जो जड़ और चेतन तत्वों को अलग-अलग मानते हैं। वास्तविक रूप से हम द्वैतवादी सिद्धान्त के विषय में कह सकते हैं कि द्वैतवादी सिद्धान्त यह है कि मनस और पुद्गल जगत में दो मूलभूत वास्तविकताएँ हैं और उनमें से एक भी दूसरे में सम्मिलित नहीं हो सकती। दोनों अपने आप में स्वतंत्र हैं। भौतिक वस्तुओं में चेतना इच्छा, ज्ञान, गति आदि का अभाव रहता है। इस कारण इन पदार्थों का चेतना तत्व पर कोई प्रभाव नहीं होता।

द्वैतवाद के समर्थन में तीन बातें कही जाती हैं कि (1) सामान्य भाषा भी इस सिद्धान्त का समर्थन करती है, (2) अनुभव भी यह बताता है कि जड़ और चेतन अलग-अलग तत्व है, (3) मनस और पदार्थ एक दूसरे पर प्रतिक्रिया नहीं कर सकते। कुछ वैज्ञानिकों ने प्रयत्न किया किन्तु वे असफल रहे और इससे यह सिद्ध किया गया कि जीवन में द्वैतवाद अपनी भूमिका का निर्वाह करता है।

आधुनिक दर्शन के जनक द्वैतवाद के जन्मदाता माने जाते हैं। वे आत्मा (Spirit) और पदार्थ (Matter) इन दो तत्वों को मानते हैं। हम अपने अनुभव में इन दोनों तत्वों का अनुभव करते हैं।

डेकार्ट ने भौतिक पदार्थ (Matter) का विशेष गुण फैलाव (Extension) और आत्मा अथवा चैतन्य मानसिक तत्व (Consciousness) का विचार (Thinking) माना है। पुद्गल में 'फैलाव' अथवा 'प्रसार' होने का अर्थ है कि वह स्थान या दिक् घेरता है और चैतन्य विभु अथवा सर्व व्यापक है जिसका दिक् को घेरने से या फैलाव से कोई सम्बन्ध नहीं है।

पुद्गल या शरीर डेकार्ट के अनुसार विभाज्य (Divisible) है किन्तु चैतन्य या मनस, अविभाज्य (Indivisible) है, उसके टुकड़े नहीं हो सकते। पुद्गल 'प्रसार-युक्त,' 'चेतनाहीन' और विभाज्य होने के कारण मनस से जोकि अप्रसारित, चेतना-युक्त एवं अविभाज्य है, पूर्ण और नितान्त भिन्न है। प्रश्न यह है कि ये दो नितान्त तत्व किस प्रकार वास्तविक जगत संघर्ष को जन्म देते हैं ? डेकार्ट ने इसके प्रत्युत्तर में उत्तर दिया कि उनकी आपस में पारस्परिक क्रिया होती है। इसके अनुसार पिनियल ग्रंथि में मनस शरीर पर और शरीर मनस पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते रहते हैं।[1]

डेकार्ट ने ईश्वर को भी अपने दर्शन में स्थान दिया है। इस संबंध में जगदीश सहाय श्रीवास्तव लिखते हैं कि "विस्तार में मौलिक गति प्रदान करने के वाद ईश्वर उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं करता। अतः वाद में गतिशील विस्तार यन्त्रवत चलता रहता है। जगत यन्त्रवत है, उसका कोई लक्ष्य या प्रयोजन नहीं है। जहाँ तक जगत का सम्वन्ध है, उसमें यन्त्रवाद (Mechanism) का सिद्धान्त लागू होता है।[2]

आलोचना

डेकार्ट का द्वैतवाद आलोचना से वच नहीं सकता। द्वैतवाद के विरुद्ध प्रथम आरोप यह है यह शक्ति के रक्षण के नियम' का विरोधी है। इस नियम के अनुसार जगत में पाई जाने वाली भौतिक शक्ति दूसरे प्रकार के भौतिक शक्ति में परिवर्तनशील है पर किसी भी प्रकार की भौतिक शक्ति अभौतिक अथवा मानसिक शक्ति में परिवर्तित नहीं हो सकती जैसा कि द्वैतवाद का कहना है।

चित् और अचित् को द्वैतवाद दार्शनिक दृष्टि से स्वीकार करने योग्य ही नहीं है। यदि चित् और अचित्, दो पृथक् द्रव्य हैं तो उनके बीच कोई उभयनिष्ठ वस्तु नहीं है तो न तो चित् ज्ञाता हो सकता है, और न अचित् ज्ञेय। दोनों के बीच सम्वन्ध के अभाव मे 'ज्ञान' की समस्या का समाधान असम्भव हो जायेगा।[3]

डेकार्ट ने आत्मा और जड़-जगत के वीच पीनियल ग्रंथि द्वारा क्रिया प्रतिक्रिया-

1. पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग—ब्र० गो० तिवारी, पृ० 118
2. आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास—जगदीश सहाय श्रीवास्तव, पृ० 107
3. वही, पृ० 117-118

वाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यह कल्पना एक बहुत ही अदार्शनिक कल्पना है। यदि संसार में चित् और अचित् नाम की दो ही मूलभूत सत्ताएँ हैं तो पीनियल ग्रंथि कहाँ से आ गई जो उनके बीच सम्बन्ध स्थापित करती है। प्रश्न यह भी है कि पीनियल ग्रंथि का स्वभाव क्या है? यदि वह चित रूप है तो अचित के साथ उसका सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित हो सकता है? और यदि वह अचित् रूप है तो चित् के साथ इसका सम्बन्ध कैसे हो सकता है? यह कहना कि पीनियल ग्रंथि चित और अचित् दोनों है तो यह परस्पर एक विरोधी कल्पना होगी। अतः क्रिया प्रतिक्रिया की कल्पना असम्भव ही प्रतीत होती है।[1]

डेकार्ट के द्वैतवाद में एक कठिनाई यह भी है कि जब मनस स्थान नहीं घेरता तो फिर वह पीनियल ग्रंथि के समीप कैसे आ जाता है और उसमें कैसे सिमट जाता है।

अनेकत्व अथवा बहुतत्ववाद

अनेकत्व या बहुतत्ववाद के अनुसार विश्व में अनेक सत्ताएँ हैं और वे स्वयं में स्वतंत्र हैं। जड़वादी बहुतत्ववाद के प्रतिपादन में बहुत-सी सत्ताओं को भौतिक मानते हैं और इन भौतिक इकाइयों को परमाणु (Atoms) कहा जाता है।

"अनेकवादी दार्शनिकों का कहना है कि मनुष्य की स्वतंत्रता तथा संसार की उन्नति और विकास के लिए अनेकवाद आवश्यक है।[2]

भौतिक बहुतत्ववाद (यूनानी बहुतत्ववाद)

भौतिक बहुतत्ववाद के प्रवर्तक यूनानी दार्शनिक डेमोक्रिटस थे। डिमोक्रिटस के अनुसार विश्व के निर्माण में कोई 'उद्देश्य' या प्रयोजन नहीं है। मनस (Mind) अथवा आत्मा (Intellect or Soul) परमाणुओं द्वारा ही निर्मित है। मस्तिष्क (Brain) जो कि भौतिक (Physical or material) है, से ही विचार (Thought or ideas) उत्पन्न होते हैं।

भौतिक बहुतत्ववाद के अनुसार, परमाणु ही अन्तिम सत्ता है किन्तु वे असंख्य (Innumerable) हैं, उनमें गति (Motive) है। इन परमाणुओं और गति के द्वारा ही जीवन (Life) तथा मनस (Mind) की व्याख्या हो सकती है। सारी व्यवस्था तथा एकता (Harmony and unity) केवल परमाणुओं के आकस्मिक और यन्त्रवत (Accidental and Mechanical) मिलन के अतिरिक्त कुछ नहीं।[3]

---

1. आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास—जगदीश सहाय श्रीवास्तव, पृ० 118
2. पाश्चात्य दर्शन का इतिहास—गुलाबराय, पृ० 348
3. पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग—प्र० गो० तिवारी, पृ० 107

इन परमाणुओं में आकर्षण (Altraction) तथा विकर्षण (Repulsion) स्वयं में होता रहता है। इनके एकत्रीकरण द्वारा ही संसार की सभी वस्तुएँ गुणों से युक्त होकर जिसमें जीवन तथा मनस भी शामिल हैं। चूँकि भौतिक बहुतत्ववाद में ईश्वर के प्रत्यय को कोई स्थान नहीं है इसी कारण इसे नास्तिक बहुतत्ववाद भी कहा जाता है।

दूसरे यूनानी दार्शनिक एम्पीडोक्लस हैं जो भौतिक बहुतत्ववाद का प्रतिनिधित्व करते हैं। उसने चार भौतिक तत्वों पृथ्वी (Earth), जल (Water), अग्नि (fire) तथा वायु (Air) को विश्व का मूलाधार माना है किन्तु ये गतिहीन हैं। इनको गति प्रेम (Love), द्वेष (Hate) नाम की दो वाह्य शक्तियों (External forces) से प्राप्त होती है। इनसे ही पदार्थ का निर्माण होता है और विघटन से विनाश होता है। ये शक्तियाँ पूर्णतया भौतिक हैं।[1]

आलोचना

भौतिक बहुतत्ववाद की कमजोरी यह है कि वह संसार की एकता तथा व्यवस्था की व्याख्या नहीं कर सकता। जबकि परमाणु स्वयं स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं, स्वयं स्थित हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि वे स्वयं ही एक विभिन्न जगत हैं, फिर वे संसार की एकता एवं व्यवस्था के लिए एक दूसरे के सम्पर्क में कैसे आ सकते हैं? यद्यपि इन लोगों का विश्वास है कि सम्पर्क में लाने का कार्य संयोग (Chance) करता है, किन्तु केवल संयोग हो जाने से एकता नहीं आ जाती, व्यवस्था नहीं हो जाती। वास्तविकता में संसार में संयोग नाम की कोई वस्तु है ही नहीं।

दूसरी बात जो आलोचना में कही जा सकती है कि भौतिक बहुतत्ववाद पुद्गल तथा जीवन तथा मनस की खाई को भर सकने में असफल हुआ है।

आध्यात्मिक बहुतत्ववाद

लाइब्नीज एक प्रतिभावान गणितज्ञ थे जिन्होंने अपने प्रत्ययवाद द्वारा आध्यात्मिक, बहुतत्ववाद का प्रतिपादन किया। उसने पुद्गल के गत्यात्मक सिद्धांत को बतलाकर बहुत प्रगति की। जगत अन्तिम एक को अथवा परमाणुओं से बना हुआ है जिसे वह चिदणु अथवा चिद्विन्दु (Monads) कहता है। यह चिदणु भौतिक वस्तुएँ नहीं हैं, यह चिदणु आध्यात्मिक है। वे शक्ति अथवा ऊर्जा के केन्द्र होते हैं। वे स्वभावतः आत्म-क्रियाशील हैं। भौतिक पिण्डो के चिदणु सुप्त तथा अविकसित होते हैं जबकि मनस के पूर्ण चेतना से विकसित होते हैं। यह चिद् विन्दु (Monads) समग्र ब्रह्माण्ड का प्रतिनिधित्व करता है। इन चिद्विन्दुओं का एक

1. पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग—ब्र० गो तिवारी, पृ० 131

पुनर्चेतन

क्रम है—आत्मचेतन, चेतन, अवचेतन और अचेतन। मनुष्य की आत्माएँ आत्म-चेतन विन्दु हैं, जानवरों की आत्माएँ चेतन चिद् विन्दु हैं। पौधों की आत्माएँ अव-चेतन चिद् विन्दु हैं, वास्तव में पुद्गल अथवा पदार्थ (Matter) नाम की वस्तु है ही नहीं। समस्त संसार चिद् बिन्दुओं द्वारा निर्मित है और ये चिद् विन्दु भौतिक नहीं आध्यात्मिक हैं। लाइब्निज ने एक चिद् विन्दु को सम्राट कहा जिसको ईश्वर कहा जा सकता है जिसे पहले से ही निर्धारित किया गया है। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि एक चिद् विन्दु दूसरे चिद्‌विन्दु के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करता क्योंकि वे गवाक्षहीन हैं। इस कारण से समस्त चिद् विन्दुओं में पूर्व निर्धारित सामञ्जस्य है।

लाइब्निज के चिद्‌विन्दु स्वयं में स्थित है और स्वयं स्थित होने के कारण क्रियाशील भी है।

आलोचना

लाइब्निज ने अपने दर्शन में पूर्व स्थापित सामंजस्य (Pre-established theory) को प्रतिपादित किया किन्तु इससे सत् (Reality) की समस्या दूर नहीं होती।

(वास्तव में लाइब्निज का बहुतत्ववाद उसके दर्शन की भूल है जब सभी चिद्‌णु चेतन है और जड़ नाम की संसार में कोई वस्तु ही नहीं है तो एक चिद्‌णु और दूसरे चिद्‌णु में किस प्रकार भेद किया जा सकता है?)

लाइब्निज के पूर्व स्थापित सामंजस्य सिद्धान्त से मानव की संकल्प स्वातंत्र्य का प्रत्यय समाप्त ही हो जाता है और पाप-पुण्य की कल्पना निरर्थक हो जाती है।

(लाइब्निज का चिद् बिन्दुवाद अध्यात्मवाद अथवा प्रत्ययवाद का एक रूप है फिर विश्व में कोई भौतिक वस्तु है ही नहीं तब ज्ञान की क्रिया किस प्रकार होती है, समझ में नहीं आता क्या केवल ज्ञाता (Subject) द्वारा ज्ञान की क्रिया पूर्णतया सम्भव है)

मनुष्य की बुद्धि को अनेकत्व अथवा बहुतत्ववाद से संतोष नहीं हो सकता चाहे वह आध्यात्मिक हो अथवा भौतिक रूप में।

अर्थक्रियावादी बहुतत्ववाद

अर्थक्रियावादी का स्थापक विलियम जेम्स है जिसने हीगेल के एक तत्ववाद का विरोध किया। वह इस बात पर बल देता है कि समस्त अनुभव ही वास्तविकता है। साथ ही यह मानता है कि व्यावहारिकता ही वह मूलभूत तत्व है।

विलियम जेम्स का कथन है कि संसार अनेक वस्तुओं का समुदाय है किन्तु उनमें एक दूसरे से कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है। पेट्रिक अपनी पुस्तक 'दर्शन शास्त्र का परिचय' में लिखता है कि, "जेम्स की रुचि 'एक' में नहीं, किन्तु 'अनेक'

में थी।" समष्टि रूप नहीं वरन् "प्रत्येक रूप", यहां तक कि उनका पृथकत्व, उनका अलग होना, उनकी स्वंतन्त्रता, उनकी नवीनता, उनकी स्वाधीनता, उनकी आकस्मिकता, उनकी स्वतः चालिता, उनका अनेकत्व, उनके अव्यवस्थित लक्षण ने भी उसे प्रभावित किया।"[1]

विलियम जेम्स संसार का विकास किसी निश्चित योजना के अनुसार नहीं मानते। वे नियतवाद अथवा अनियतवाद किसी का समर्थन नहीं करते। वे अवसर (Chance) को प्रधानता देते हैं और अपने सिद्धान्त को टायकिइजम (Tychism) कहते हैं। टायकिइजम का अर्थ है चान्स (Chance) या अवसर, संसार के सम्वन्ध में जेम्स की धारणा है कि वह स्थिर और यन्त्रवत नहीं है, वह विकसित हो रहा है। इसमें प्रायः नवीनतायें उदित हुआ करती हैं।

विलियम जेम्स ने मौलिक अनुभववाद को अपनाया है। और इस कारण उसकी दृष्टि में सत् अथवा "सद्वस्तु (Reality) न तो भौतिक है, न ही मानसिक हम इस विश्व में केवल एक प्रमुख पदार्थ पाते हैं। वह शुद्ध अनुभव का पदार्थ है। वस्तुएँ भौतिक एवं मानसिक सत्ता की रचनायें हैं। ये अनुभव को क्रमवद्ध करने के लिए श्रेणियां (Categories) हैं। मुख्य रूप में अनुभव ही प्राकृतिक है। जिसकी व्याख्या अन्य विधि से भी की जा सकती है। शुद्ध अनुभव का प्रत्येक अंश दो विभिन्न रेखाओं का अन्तः विभाजन है जिसमें एक मानसिक तथ्य को और दूसरी भौतिक तथ्य को निर्देशित करती है।"[2] इस प्रकार जेम्स संसार में स्वतन्त्रता, संयोग, नवीनता तथा प्रगति के अस्तित्व को देखता है।

नव्य-विषयवादी बहुतत्ववाद

नव्य-विषयवादी (Neo-realists) विलियम जेम्स की तरह ही वहुतत्ववाद को मानते हैं किन्तु दोनों में भेद है। विलियम जेम्स में गोचर परिवर्तन की स्मृद्धि तथा विभिन्नता हमारा ध्यान आकर्षित करती है, वही नव्य विषयवादियों को यह आकर्षित नहीं करती किन्तु तर्क, विचार तथा मूल्यों के जगत की स्मृद्धि तथा विभिन्नता उसे आकर्षित करती है जगत में भौतिक और मानसिक वस्तुओं के अतिरिक्त भी वहुत सी वस्तुएँ हैं। भौतिक तथा मानसिक वस्तुएँ, घटनाएं तथा प्रक्रियाएं वहुतत्ववादी सिद्धान्त में वास्तविक हैं, उसी तरह तर्क वुद्धि के नियम, तार्किक नियम आन्तरिक तथा वाह्य सम्वन्ध, दिक् काल, शृंखला, तथा न्याय और सौन्दर्य जैसी आदर्श सत्तायें भी हैं।

---

1. दर्शन शास्त्र का परिचय—पेट्रिक, पृ० 232
2. समकालीन दर्शन—राम नाथ शर्मा, पृ० 289

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि भौतिक घटनायें तथा मानसिक घटनायें एक ही पदार्थ की बनी हुई हैं जो न भौतिक हैं और न मानसिक हैं।

आलोचना

नव्य विषयवादियों की उपरोक्त प्रवृत्ति जगत की विविधता तथा व्यक्तित्व की एकता को बलिदान करती है। यह केवल स्वयं विरोधी अनेक विचारों का समुदाय मात्र है। यह मत मनस तथा चेतना की आभ्यन्तरिकता (Subjectivity) की उपेक्षा करता है।

सिन्हा का कथन है कि "नव्य विषयवादियों के जगत दर्शन में अनेकों सत्य मिलते हैं जिनको एक दूसरे से सामञ्जस्य करने पर संसार के एक आदर्शात्मक रूप की कल्पना हो जाती है। अपनी इस स्थिति को वे पूर्णतया स्पष्ट नहीं करते।"[1]

रसेल का तटस्थावाद (Neutralism)

रसेल के अनुसार भौतिक (Physical) तथा मानसिक (Mental) दोनों तत्व मूल तत्व के दो रूप हैं, जो कि (मूल सत्ता) सामान्य है। उन्होंने न तो भौतिकवाद ही का खण्डन या मण्डन किया है और न ही अध्यात्मवाद का। इन्होंने मूल तत्व को तटस्थ (Neutral) माना है, भिन्न-भिन्न रूपों में देखने पर उसके भिन्न-भिन्न रूप हो जाते हैं। इस प्रकार सत्ता न तो जड़ात्मक है, न ही चिदात्मक, किन्तु परिस्थिति वश वही सत्ता एक स्थान पर जड़ात्मक तथा दूसरे स्थान पर चिदात्मक हो जाती है।

सत् के स्तर—जड़, प्राण, चेतन और आत्म चेतन

दार्शनिकों के बीच सत् (Reality) विषय को लेकर बहुत अधिक मतभेद प्रचलित हैं। विश्वोत्पत्ति कैसे हुई, यह प्रश्न आज भी रहस्य बना हुआ है। दार्शनिकों के लिए यह एक समस्या है। कुछ दार्शनिक जड़ को प्रधानता देते हैं, कुछ चेतन को। कुछ दार्शनिक जड़ और चेतन दोनों को मानते हैं और यह विश्वास करते हैं कि विश्व की संरचना इन्हीं दो तत्वों के आधार पर हुई है। विश्व के विकास क्रम में भी इन तत्वों के आधार पर कहा जाता है कि प्राण, चेतन, आत्म चेतन का विकास मनुष्य में देखा जा सकता है। हम क्रमशः जड़, प्राण, चेतन और आत्म चेतन का विवेचन करेंगे।

ग्रीक दर्शन में जड़वाद

आधुनिक जड़वाद का प्रारम्भ हम ग्रीक-दर्शन में पाते हैं। ग्रीक दर्शन में ल्युसिपस (Leucipus) और डेमोक्राइटस ऐसे दार्शनिक हैं जो परमाणुवाद (Atomism) को मानते हैं। जड़वादियों की मान्यता के अनुसार जड़ ही एक मात्र

1. पश्चिमी दर्शन—सिन्हा, पृ० 180

सत् पदार्थ है इस कारण डेमोक्राइटस का स्पष्ट मत है कि जगत का निर्माण जड़ परमाणुओं से हुआ है। परन्तु इससे परमाणुओं में गतिशीलता को माना है किन्तु वे यह नहीं मानते कि उन्हें गतिशीलता किसी बाह्य शक्ति से प्राप्त नहीं होती। यह शक्ति उसमें ही अन्तर्निहित है।[1]

प्राचीन जड़वादियों में मुख्य स्थान एपीक्यूरस (Epicurus) और लुकरीशियस (Lucretius) नामक दार्शनिकों का है। एपीक्यूरस ने डेमोक्राइटस के परमाणुवाद को माना किन्तु वह तत्वों, भार (Weight) और इच्छा की स्वतंत्रता को जोड़ देता है। यह जड़ पदार्थ चिरन्तन है और मौलिक पदार्थ है। समस्त सृष्टि की संरचना इन्हीं परमाणुओं के कारण है।

जड़वाद के भेद

जड़वाद के कई धरातल हैं। पहला धरातल यन्त्रवाद (Mechanism) है। यन्त्रवादी मानता है कि संसार में जो कुछ हो रहा है वह यान्त्रिक रूप से हो रहा है क्योंकि संसार स्वयं में एक महान यन्त्र की तरह है जो बिना किसी लक्ष्य या प्रयोजन के क्रियाशील है। जो भी प्राकृतिक घटनायें घटित होती हैं वे केवल परमाणुओं के संयोग और वियोग के कारण ही घटित होती हैं। जड़वादियों को भौतिक प्रकृतिवादी भी कहा गया है। उनकी यह भी मान्यता है कि कारण और कार्य का सम्बन्ध है जिससे घटना घटित होती है, और यह गणित के नियमों के समान स्पष्ट है।

जड़वादियों का दूसरा धरातल उन व्यक्तियों द्वारा है जो शक्तिवाद (Energism) का प्रतिपादन करते है। वे बताते हैं कि पुद्गल (पदार्थ) अथवा पिण्ड में आत्मगति की योग्यता स्वतः होती है। इन कारणों से "जड़वाद संकल्प का स्वातन्त्र्य (Freedom of will), आत्मा की अमरता (Immortality of soul) और ईश्वर के अस्तित्व (Existence of God) के सिद्धान्तों को नहीं मानता।

उपरोक्त दोनों धरातलों की जब आलोचना होने लगी तब जड़वादियों ने तीसरा धरातल बताया, जिसे प्राणवाद (Vitalism) कहा जाता है। प्राणवाद के सिद्धान्त के अनुसार यह माना जाता है कि प्राण, प्राण से ही उत्पन्न होता है।

सारांश यह है कि जड़वाद के अनुसार विश्व की समस्त घटनाएँ चाहे वे भौतिक हों या मानसिक पिण्ड (Mass), गति (Motion), शक्ति (Force) आदि भौतिक प्रक्रिया द्वारा ही समझायी जा सकती हैं। किन्तु यह याद रखना चाहिये कि "गति और परिवर्तन अपने आप में विकास नहीं है पर विकास वस्तुतः गति और

---

1. पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग—तिवारी, पृ० 131

विकास हुआ। जड़ की अपेक्षा जीव में परम सत्ता की अभिव्यक्ति अधिक पूर्ण है परन्तु अर्द्ध चेतन जीव के द्वारा परम सत्ता वाचाल नहीं हो सकती है। जब जीव से मानव का उद् विकास हुआ तब परम सत्ता की लड़खड़ाती हुई जीवों में अर्द्ध-चेतन अभिव्यक्ति मानव-कला, विज्ञान और चिंतन में झंकृत हो उठी, किन्तु निरपेक्ष प्रत्ययवादियों (Subjective Idealists) के अनुसार (ब्रैडले और बोसांके) व्यष्टि कितनी ही पूर्ण क्यों न हो, वह परम सत्ता में निहित पूर्णता को कभी साकार नहीं कर सकती है।[1]

जॉन लॉक के दर्शन में जड़त्व

जॉन लॉक ने जो अनुभववादी है प्रत्ययों को दो भागों में बाँटता है—(1) सरल प्रत्यय और (1) जटिल प्रत्यय। वह सरल प्रत्ययों के आधार पर ही जड़ तत्व की स्थापना करता है उसकी मान्यता है कि जड़ तत्व में दो प्रकार के गुण पाये जाते हैं, प्राथमिक और गौण। जड़ तत्व ठोस, विस्तृत और गतिशील होता है। साथ ही जड़ वस्तु में विशिष्ट रंग, भार, स्वाद, गन्ध और शब्द दिखलायी पड़ते हैं। जड़ तत्व के इन गुणों में रंग, शब्द, स्वाद और गन्ध आदि हमारी वाह्य इन्द्रियों पर निर्भर होते हैं। इन्द्रियों में परिवर्तन हो जाने पर इन गुणों में भी परिवर्तन हो जाता है। लॉक ने यह माना है कि जड़ वह वस्तु है जिसको हम नहीं जानते।

लॉक ने आतम से स्वतंत्र जड़ तत्व के अस्तित्व को माना है।

लॉक जड़ तत्व का समर्थन इसलिये करता है कि एक ओर प्राथमिक गुण जन्म-जात प्रत्ययों के कारण नहीं है और मन एक कोरी पट्टी की तरह है, इसलिए मन से बाहर इन गुणों का आधार होना चाहिये। उसकी यह धारणा इस कारण से आवश्यक है क्योंकि इसे माने बिना यह नहीं समझाया जा सकता कि हमारी संवेदनाओं का वाह्य आधार क्या है अर्थात् हमारी संवेदनाएं कहाँ से आती हैं?[2] हम आगे चलकर लॉक के जड़ तत्व की समीक्षा बर्कले और ह्यूम के दिये गये विचारों के आधार पर करेंगे।

मार्क्स का जड़ तत्व

मार्क्स का भौतिक जड़ तत्व अन्य भौतिकवादियों से भिन्न है। मार्क्स ने स्वयं अपने "फ्यूरबाख पर ग्यारह निबन्ध" में यह युक्ति प्रस्तुत की है कि "पहले के सब भौतिकवादों में, जिनमें फ्यूरबाख का भौतिकवाद भी सम्मिलित है। मुख्य त्रुटि यह है कि विषय, वास्तविकता, अनुभवगम्यता का निरूपण केवल विषय के रूप के

1. हेगेल और ब्रैडले का प्रत्ययवाद—याकूब मसीह, पृ० 111
2. पाश्चात्य दर्शन का ऐतिहासिक विवेचन—रामनाथ शर्मा, पृ० 116

अन्तर्गत या रूप चिंतन के अन्तर्गत किया गया है, परन्तु मानवीय अनुभूतिशील गतिविधि या व्यवहार के रूप में नहीं, कर्ताश्रिन के रूप में नहीं।"[1]

मार्क्स ने हीगेल की द्वन्द्वात्मक प्रणाली को अपनाया जरूर, किन्तु दोनों में भेद है। हीगेल अध्यात्मवादी है, मार्क्स जड़वादी है। जड़वाद की प्रमुख मान्यता यही है कि मूलतत्व जड प्रकृति है न कि कोई चेतन शक्ति। जड़ की सत्ता चेतना या चैतन्य से पहले है, चेतना जड़ तत्वों के संघात विशेष का धर्म है। मार्क्स यह मानता है कि द्वन्द्व नियम केवल विचार जगत का ही नहीं, वस्तु जगत का भी नियम है। वस्तुत: मार्क्सवाद में प्रत्यय जगत नहीं, वस्तु जगत की प्रधानता है।[2]

मार्क्स का जड़ तत्व केवल अनुभूति की धारणा से ही जुड़ा हुआ नहीं है किन्तु वह उसे सामाजिक परिवर्तन का मुख्य निर्णायक भी बताता है। मार्क्स ने हेगेल के द्वन्द्वात्मक (Dilectical) प्रणाली को तो अपनाया, किन्तु उसके विज्ञानवाद (Idealism) को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार उसका दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहलाया। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार भौतिक तत्व या जड़ पदार्थ जगत का अभिष्ठाता है जो विकसित होकर भिन्न-भिन्न रूप धारण करता है। मार्क्स लिखता है, "मनुष्य के मस्तिष्क द्वारा प्रतिविम्बित और विचार रूप में परिवर्तित भौतिक संसार ही मेरा आदर्श है।" भौतिक विकास आन्तरिक विरोध के कारण तीन क्रमों में से, वाद, प्रतिवाद तथा संवाद गुजरता है।

मार्क्स के अनुसार सभी सामाजिक युग परिवर्तन एक भौतिक प्रभाव उत्पादन प्रणाली में प्रणाली के कारण हुए हैं और होंगे।

मार्क्स की इस ऐतिहासिक जड़वाद के कारण ही उसकी आलोचना की जाती है जो जड़ को ही एक मात्र तत्व मानता है। जिसमें आत्मा व ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है। कुछ लोगों की धारणा है कि इसी कारण समाज से नैतिकता का लोप हो रहा है और समाज में अस्त-व्यस्तता दृष्टिगोचर हो रही है।

वर्कले द्वारा जड़ तत्व का खण्डन

वर्कले के दर्शन का प्रमुख उद्देश्य ही जड़ तत्व का खण्डन और आत्म तत्व को स्थापित करना था। वर्कले विज्ञानवादी होने के कारण आत्मा से स्वतन्त्र किसी जड़-तत्व में विश्वास ही नहीं करते। जड़ तत्व के खण्डन के लिए उन्होंने दो युक्तियाँ बतायी हैं—(1) तार्किक युक्ति (Logical argument) और (2) ज्ञान मीमांसीय युक्ति (Epistemological arguments)।

---

1. धर्म और समाज से उद्धृत—डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० 36
2. पूर्वी और पश्चिमी दर्शन—डॉ० देवराज, पृ० 95

परिवर्तन के जरिये ही होता है।"[1]

यन्त्रवाद की आलोचना

यन्त्रवाद की आलोचना में कहा गया है कि "संसार महान यन्त्र के समान नहीं है, हमें विश्व में प्रयोजन, लक्ष्य एवं हेतु दृष्टिगोचर होते हैं। जगत अनन्त काल से घूमने वाले परमाणुओं के एकाएक आकस्मिक संयोग और वियोग का पसारा नहीं है। यंत्रवाद न तो संसार की सृष्टि की क्रिया ही समझा सकता है और न प्राण और चेतन की उत्पत्ति पर ही प्रकाश डाल सकता है।"[2]

विकासवादी दार्शनिकों के मत

लॉयड मार्गन (Lloyd Morgan) ने नव्यों क्रान्तिवाद (Emergent Evolution) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उसके "मतानुसार निर्जीव पदार्थ से 'प्राण' और प्राण से मनस (Mind) का आविर्भाव (Emergence) होता है। इस प्रकार यथार्थ जगत के तीन स्तर (Levels) हैं—पुद्गल, प्राण और मनस। 'प्राण' पुदगल (Matter) से उच्चतर है, और मनस प्राण से उच्चतर है हर्बर्ट स्पेन्सर ने भी यंत्रवादी व्याख्या प्रस्तुत की। हम उनके दर्शन में वैज्ञानिक अनुभववाद तथा दार्शनिक परिकल्पना का समन्वय पाते हैं। जैविक विकासवाद के आधार पर वे अपने जड़वाद को निर्धारित करते हैं।

एलेक्जेण्डर के मतानुसार विश्व की रचना दिक्-काल (Space time) से हुई है। यह दिक्-काल अन्यतम तथा निरपेक्ष तत्व है जिसमें से सब कुछ निकला है। उनका विकास क्रम इस प्रकार बताया गया है कि "दिक् काल के चक्र से (अथवा शुद्ध गति से) विशेष या निश्चित गति (Determinate motion) निकलती है, फिर गति से पुद्गल (Matter) निकलता है। इसके उपरान्त, पुद्गल के भिन्न गुण निकलते हैं, तब इस पुद्गल से प्राण का, और प्राण से मनस का विकास होता है। सबके अन्त में, विकास क्रिया के उच्चतम फल के रूप में, ईश्वर (Deity) निकलता है।"[3]

नव्योत्क्रान्तिवादी और जड़वादी विचारों में मुख्य भेद निम्नलिखित हैं:—

1. जड़वादियों के अनुसार केवल जड़ ही एक मात्र सत् पदार्थ है, नवोत्क्रान्तिवादियों के अनुसार यद्यपि जड़ चिरन्तन है और सबसे अधिक मौलिक पदार्थ है परन्तु उसे पदार्थ नहीं कहा जा सकता।

2. नव्योत्क्रान्तिवादी व्याख्या जड़वादी यंत्रवाद का खण्डन करती है।

---

1. द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और दर्शन का इतिहास—थेओदर ओइजेर्मान, पृ० 35
2. पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग—तिवारी, पृ० 75
3. वही, 96

3. जड़वाद के अनुसार जगत की उत्पति पूर्ण व्यवस्था में होती है जबकि नव्योत्क्रान्तिवादियों के अनुसार वह अपूर्ण है।

4. जड़वादियों के अनुसार जगत में कभी भी किसी नये पदार्थ की उत्पति नहीं हो सकती, नव्योत्क्रान्तिवादियों के अनुसार जगत में समय-समय पर नवीन पदार्थों की उत्पति होती रहती है।

5. जड़वादियों के अनुसार सृष्टि का क्रम पूरी तरह से पूर्व निश्चित है। नव्योत्क्रान्तिवादियों के अनुसार जगत का क्रम निश्चित नहीं है। उसमें नवीनता है।

6. जड़वादियों के विरुद्ध नव्योत्क्रान्तिवादी विकास में प्रत्येक नये स्तर पर पिछले स्तर की तुलना में कुछ नये गुणों की उपस्थिति मानते हैं।[1]

जड़ सम्बन्धी आत्मनिष्ठ आदर्शवादियों के विचार

जड़ पदार्थ को लेकर आदर्शवादी और वस्तुवादी दो खेमों में बँट गये हैं। हम सर्वप्रथम आदर्शवादी विचारों को देखें। बर्कले आदर्शवादी दार्शनिक हैं। वे आत्मा और उसके प्रत्यय के अतिरिक्त जड़ को सत्य नहीं मानते।[2] वे सत्य को प्रत्ययों का संघात मानते हैं।[3] लाइब्निज को सर्वचितवादी (Panpsychism) कहा जाता है क्योंकि उसके अनुसार केवल चिद् विन्दु (मोनडे) ही परम सत्ताएँ हैं और जड़ और जगत केवल आभास मात्र हैं। वास्तविकता तो यह है कि आत्मनिष्ठ (Subjective) आदर्शवादियों के अनुसार जड़ भी प्रत्यय ही है और अन्तिम सत्ता आध्यात्मिक है। इनके अनुसार अन्तिम रूप से जड़ सुपुप्त विचारों का समूह है।

जड़ सम्बन्धी वस्तुनिष्ठ आदर्शवादियों के विचार

वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवादी अथवा आदर्शवादी (Objective idealist) जड़ और प्रकृति की वास्तविकता को स्वीकार करते हैं किन्तु उनकी मान्यता है कि प्रत्यय (Idea) ही मौलिक रूप से परम सत्ता है और जड़ के आधार में भी प्रत्यय ही है। वे यह मानते हैं कि जड़ की व्याख्या विना आधारभूत प्रत्ययों के सम्भव नहीं है।

"वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवादियों की मान्यता है" याकूव मसीह लिखते हैं कि परम सत्ता अतिवैयक्तिक सत्ता है, जिसमें अनन्त क्षमताएँ हैं और वे क्षमताएँ क्रमशः जड़, जीवन और चेतन में साकार होती हैं।[3]

जड़, वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवादियों के अनुसार, परम सत्ता की अभिव्यक्ति है। परन्तु यह अपूर्ण है। परम सत्ता के इस आत्म प्रकाशन करने हेतु जड़ से जीव का

1. समकालीन दर्शन—राम नाथ शर्मा, पृ० 315-16
2. हेगेल और ब्रैडले का प्रत्ययवाद—याकूव मसीह, पृ० 5
3. वही, पृ० 58

तार्किक युक्ति को हम बर्कले में शब्दों में ही देखें। उसने लिखा, "यदि हम प्रश्न करें कि सर्वाधिक कुशल दार्शनिक भौतिक द्रव्यों से क्या अभिप्राय लेते हैं तो हम उनको स्वीकार करते हुए पायेंगे कि वे इन ध्वनियों को अन्य अर्थ प्रदान नहीं करते, सिवाय इसके कि यह एक सामान्य सत् का प्रत्यय है और इसके साथ इसके आश्रित आकस्मिक गुणों का सापेक्ष प्रत्यय लगा हुआ है। सत् का सामान्य प्रत्यय मुझे अन्य सभी प्रत्ययों की अपेक्षा सबसे अधिक अमूर्त और अचिन्त्य प्रतीत होता है।"[1] प्रत्येक सत् विशेष होता है। सामान्य सत् की कल्पना भी नहीं की जा सकती। सामान्य सत् वही होगा जो समस्त गुणों से पृथक् होगा पर ऐसा द्रव्य निरर्थक, बाधित और अचिन्त्य होगा, अतः जड़ तत्व की कल्पना व्यर्थ है।

ज्ञान मीमांसीय युक्ति

बर्कले की ज्ञान मीमांसीय युक्ति के सन्दर्भ में जगदीश सहाय श्रीवास्तव ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास' में लिखा है कि "बर्कले कहते हैं कि यदि थोड़े समय के लिये मान भी लिया जाय कि तथाकथित जड़ तत्व का अस्तित्व है तो प्रश्न होता है कि हम उसे कैसे जानते हैं? उसे हम दो ही प्रकार से जान सकते हैं। इन्द्रियों द्वारा या बुद्धि द्वारा।"[2] "जहाँ तक इन्द्रिय प्रत्यक्ष की बात है वहाँ तक हम केवल अपने संवेदों, प्रत्ययों या उन वस्तुओं को जिन्हें हम इन्द्रियों से साक्षात् देखते हैं, फिर हम उन्हें चाहे जिस नाम से पुकारें, जानते हैं। वे हमें सूचना नहीं देते कि मन के बाहर अदृष्ट वस्तुओं का अस्तित्व है जो दृष्ट वस्तुओं के समान है।"[3] पुनः यदि जड़ तत्व को इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा नहीं जान सकते तो बुद्धि के द्वारा भी नहीं जान सकते। हमारे प्रत्ययों और बाह्य जड़ तत्व में कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं पाया जाता। "हम जो देखते हैं उससे कौन-सी युक्ति हमें यह विश्वास दिला सकती है कि मन के बाहर वस्तुओं का अस्तित्व है क्योंकि जड़ तत्व के संरक्षक स्वयं नहीं बताते कि उनमें और हमारे प्रत्ययों में कोई अनिवार्य सम्बन्ध है।"[4] इस

---

1. "If we inquire into what the most accurate Philosophers declare themselves to mean by material substance, we shall find them acknowledge they have no other meaning annexed to those sounds but the idea of being in general together with the relative notion of its supporting accidents. The general idea of being appeareth to me the most abstract and in comprehensible of all other."
2. आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास—जगदीश सहाय श्रीवास्तव, पृ० 276
3. मानवीय ज्ञान के सिद्धान्त—बर्कले, पृ० 18
4. वही

कारण वर्कले यह मानते हैं कि वुद्धि द्वारा दृष्ट वस्तु के आधार पर अदृश्य का ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है।

कार्य-कारण युक्ति

कुछ दार्शनिकों के अनुसार वाह्य जड़ तत्व हमारे विज्ञान का कारण है। वह हमारे लिए भले ही अज्ञेय हो, पर उत्तेजना (Stimulus) के रूप में हमारी आत्मा में विज्ञान के रूप में प्रतिक्रिया (Response) को उत्पन्न करता है, अर्थात् जड़ तत्व हमारे विज्ञानों का वाह्य कारण है। वर्कले इसका खण्डन करते हैं और यह वताते हैं कि क्यों जड़ पदार्थ हमारे विज्ञानों के कारण नहीं हो सकते। वे तीन तर्क देते हैं :—

1. जो जड़ है वह सजग विज्ञानों को किस प्रकार उत्पन्न कर सकता है।

2. जड़ पदार्थ अशक्त (Inert) और निष्क्रिय (Passive) है जो अशक्त और निष्क्रिय है। उसके भीतर विज्ञानों को उत्पन्न करने की क्षमता ही कैसे विद्यमान हो सकती है।

3. जड़ पदार्थ इसलिए भी विज्ञानों के कारण नहीं हो सकते क्योंकि वे न तो द्रष्टा रूप हैं और न दृश्य रूप ही। जड़ पदार्थ के अदृश और अज्ञेय होने के कारण वह न तो ज्ञाता हो सकता है और न ज्ञेय ही।[1]

वर्कले की मान्यता यह है कि हमारे मानसिक विज्ञानों की उपज हमारी आत्मा के भीतर चेतना के कारण ही सम्भव है। उन्होंने माना कि "अचेतन वस्तुओं का निरपेक्ष अस्तित्व निरर्थक शब्द है अथवा व्याघात है।" तथाकथित वाह्य जड़ पदार्थों की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है।

ह्यूम द्वारा जड़ तत्व का खण्डन

ह्यूम भी जड़ तत्व का खण्डन करता है। वे लिखते हैं कि, "मैं उन दार्शनिकों से, जो अपने विचारों का आधार द्रव्य (Substance) और पर्याय (Modes) के भेदों को मानते हैं और कल्पना करते हैं कि उनको इनका स्पष्ट ज्ञान होता है, पूछना चाहूँगा कि द्रव्य का विज्ञान संवेदन-संस्कार से उत्पन्न होता है या स्व-संवेदन संस्कार से। यदि द्रव्य का संवेदन होता है तो मैं पूछता हूँ कि किन इन्द्रियों से और किस प्रकार ? यदि द्रव्य की प्रतीती आँख से होती है तो उनका रूप होना चाहिए, यदि कान से हो तो उसका शब्द होना चाहिए, यदि रसना से तो उसका रस होना चाहिए, और इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय में प्रतीती होनी चाहिए, किन्तु मेरा विश्वास है कि कोई यह नहीं कहेगा कि द्रव्य रूप है, या शब्द है, या रस है। अव यदि द्रव्य सत् है तो उसका विज्ञान स्व-संवेदन संस्कार से आना चाहिए किन्तु स्व-संवेदन

1. आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास—जगदीश सहाय श्रीवास्तव, पृ० 26

संस्कार या तो हमारी भावनाएँ हैं या हमारे मनोवेग और इन दोनों में से कोई भी द्रव्य नहीं हो सकता। अतः द्रव्य का विज्ञान वस्तुतः कल्पना द्वारा संयुक्त सरल विज्ञानों के उस समूह के अतिरिक्त कुछ और नहीं है जिस समूह को द्रव्य का नाम दे दिया जाता है।"[1]

जड़, प्राण, चेतन आदि का क्रमिक विकास

हीगिल ने अपने द्वन्द्वात्मक विकासवाद में प्रकृति को जड़ रूप (Material) को वाद (Thesis) के रूप में स्वीकार किया है, इसका प्रतिवाद (Anti thesis) प्रकृति का रासायनिक (Chemical) रूप है। इन दोनों का समन्वय प्राण (Vital) रूप में होता है और प्रकृति के इन तीनों रूपों में भिन्न-भिन्न नियम काम करते हैं।

हीगेल के अनुयायी हेनरी स्टीफेन का कथन है कि "हम प्राण और आत्मा को एक ही सक्रिय, आत्म विकासशील और आत्म संगठनकारी शक्ति के आत्म निर्भरता के लक्ष्य की ओर होने वाले विकास क्रम की दो विभिन्न अवस्थायें मान सकते हैं। पौधों और पशुओं में वह शक्ति प्राण मात्र के रूप में दिखाई देती है। मनुष्य में वह और अधिक विकसित होकर आत्म चेतन, आत्म नियमनकारी, आत्मा का रूप ले लेती है और आत्म निर्भरता की इतनी ऊँची मात्रा प्राप्त कर लेती है कि वह अपने शरीर विशेष से भी स्वतंत्र हो जाती है।"

उन्मज्जन सिद्धान्त (Emergent Theory)

उन्मज्जन सिद्धान्त के प्रतिपादक लॉयड मार्गन हैं। उनका मत है कि जीवन का पुद्गल से और चित् का जीवन से उन्मज्जन (Emergence) होता है। पुद्गल, जीवन और चित् जगत के विकास क्रम के तीन स्तर हैं। जीवन पद्गल से श्रेष्ठ है। चित् जीवन से श्रेष्ठ है। विकास की प्रक्रिया में सर्जनात्मक संश्लेषण (Creative Synthesis) रहता है। पेट्रिक का कहना है कि जीवन असल में संगठन (Organization) का विकासात्मक फल है।

याकूब मसीह अपनी पुस्तक 'हेगेल और ब्रेडले का प्रत्ययवाद" में लिखते हैं— "जड़, जीव और चेतन तीनों को सोपान क्रमिक व्यवस्था में रखा जाता है परन्तु जड़ और जीव की व्याख्या केवल चेतन के आधार पर संपन्न होती है।"[2] आगे चलकर उन्होंने कहा कि "प्रारम्भ में एक समय केवल जड़ जगत था। तब रहस्यमय रीति से इसी जड़ से जीवाणु उत्पन्न हुए और जीवाणुओं के आपसी संघर्ष के परिणाम-स्वरूप मानव नवोत्क्रान्त हुआ। अब जड़ और जीव में बड़ा अन्तर और विरोध है।

---

1. मानव स्वभाव पर एक ग्रंथ, भाग 1 खंड 1, अधि० 6
2. हेगेल और ब्रेडले का प्रत्ययवाद—याकूब मसीह, पृ० 154

जीव में स्व प्रजनन-प्रक्रिया पायी जाती है जो प्रक्रिया जड़ में नहीं पायी जाती। फिर जीव में जीर्णोद्धार (Self repair) की प्रक्रिया देखी जाती है, जो प्रक्रिया जड़ में नहीं पायी जाती। इस प्रकार जीव में आत्म-स्फुरण अथवा आत्म संचालन (Self-Spontancity) की प्रक्रिया देखी जाती है। परन्तु इन अन्तरों के वावजूद इन दोनों में साम्य तथा तादात्म्य देखा जाता है। यदि जड़ में ही जीव निहित नहीं होता तो जीव जड़ से किस प्रकार उन्मज्जित हो सकता था? इसलिए जड़ और जीव में अन्तर भी है और तादात्म्य भी।[1] दूसरी लाइब्निज की अपनी विचारधारा है। उसके अनुसार, चिद् बिन्दु एक धरातल के नहीं हैं। पूर्ण रूप से भौतिक लगने वाले जैसे पहाड़, लकड़ी, मिट्टी आदि पदार्थों में भी चिद्विन्दु ही है और उनमें उनकी अवस्था 'सुषिप्ति' की अवस्था है। वनस्पतियाँ अवचेतन चिद्विन्दुओं द्वारा निर्मित हैं, पशुओं का निर्माण 'अर्द्धचेतन' चिद्विन्दुओं द्वारा होता है और मानव आत्म चेतन चिद्विन्दु से निर्मित है।"[2]

नव्य-व्यवहारवादियों (Neo-realists) के अनुसार "पदार्थ (Matter), जीव या प्राण (Life) तथा चेतन (Mind or Consciousness) वास्तविकता के भिन्न-भिन्न स्तर हैं। इनमें श्रेणी भेद हैं जोकि पुद्गल के संगठन से उत्पन्न होता है। चेतना और भी उच्च स्तर की वास्तविकता है, जो अत्यन्त ही संगठित जीवन से उत्पन्न होती है। इस प्रकार संगठन के परिणामस्वरूप प्रत्येक स्तर पर उन तत्वों में से नवीन वास्तविकताओं की उत्पति होती हैं।

चेतना (Consciousness)

चेतना शब्द को समझने के लिए पहला प्रश्न हमारे सामने यही है कि चेतना क्या है? हम यह जानते है कि मानव जीवन में चेतना के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वास्तविकता में चेतना का अर्थ किसी वस्तु की चेतना से होता है। चेतना का ज्ञान दो रूप से होता है—(1) आन्तरिक अनुभव के रूप में और एक सम्बन्ध के रूप में 'चेतना आन्तरिक अनुभव के रूप में मानसिक घटनाएँ ही होती हैं जैसा कि हम उन्हें आत्मगत रूप से अनुभव में देखते हैं। पेट्रिक का कथन है कि "अनुकूलनशील व्यवहार जव अन्य लोगों में देखा जाता है तो हम उसे मनस कहते हैं, जव वह स्वयं अपने में अनुभव किया जाता है तो वही चेतना कहलाता है।" आगे वह लिखता है, "चेतना एक प्रकार की गोपनीयता है—एक घनिष्ठ, आन्तरिक और मानसिक जीवन, एक ऐसा गम्भीर पक्ष है जो अन्य लोगों द्वारा आधा ही देखा

1. हेगेल और ब्रैडले का प्रत्ययवाद—याकूब मसीह, पृ० 156-57
2. पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग—ब्र० गो० तिवारी, पृ० 112

जा सकता है। इस तरह चेतना अनुभूति है, जो जीवन में ऐसे व्यक्ति में होती है, जिसे अनुभव होता है, जो विचार करता है, आचरण करता है और इच्छाएँ रखता है।"[1]

चेतना में तीन बातें होती हैं—(1) ज्ञाता (Subject) वस्तु (Object) और सम्बन्ध (Relation) जिसमें तीनों सत्य हैं। बिना सम्बन्ध के चेतना नहीं हो सकती। जैसा हमने ऊपर कहा चेतना का ज्ञान दो रूप से होता है। सम्बन्ध के रूप में पेट्रिक कथन करता है कि, "सम्बन्ध के रूप में चेतना का अर्थ अभिज्ञा है और वह क्रमशः रुचि तथा अर्थ का सम्बन्ध लेती जाती है। इन अभिज्ञों के साथ-साथ अर्थ बोध का सम्बन्ध भी होता है।"[2]

चेतना की तर्कीय परिभाषा नहीं दी जा सकती है पर इसका बोध सबको होता है। दार्शनिकों का चेतना विषय विश्लेषण दो दिशाओं की ओर ले जाता है—(1) चेतना की क्रिया और चेतना की अन्तर्वस्तु (सामग्री) के बीच भेद (अन्तर) निकाला जा सकता है और फिर इन दोनों घटकों के रूप में विचार किया जा सकता है। (2) चेतना का विश्लेषण करके उसके तीन मुख्य कार्यों पर विचार किया जाता है अर्थात् संज्ञान (Cognition), संवेग (Emotion) तथा क्रिया वृत्ति (Conation)। चेतना का एक रूप हमारी आत्म चेतना है जो शायद पशुओं की चेतना से भिन्न है।[3]

चेतना के सम्बन्ध में एक प्रश्न उभरता है कि क्या चेतना का अस्तित्व है? दार्शनिकों के लिए समस्या के रूप में उभरता है किन्तु विलियम जेम्स, दी जर्नल ऑफ फिलासफी के अन्तर्गत 1904 में प्रकाशित उनके निबन्ध 'इज कॉनशसनेस एक्जिस्ट' में वे स्वीकार करते हैं कि चेतना पदार्थ या तत्व के रूप में अस्तित्ववान नहीं है।

चेतना की प्रकृति

हॉल्ट जैसे कुछ वस्तुवादी चेतना के विषय में व्यवहारवादी दृष्टिकोण रखते हैं। वे विलियम जेम्स से प्रभावित हैं किन्तु मॉन्टेग्यू इस विचार से सहमत नहीं हो सका। वह चेतना के विषय में अपना स्वतंत्र विचार रखता है। उसकी दृष्टि में चेतना शारीरिक शक्ति का एक अन्तर्निहित रूप है। मॉन्टेग्यू चेतना को 'स्वातिक्रमणशील आपादान (Self transcending implication)' भी कहता है। इसे मस्तिष्क की दशायें ऐन्द्रिक बाह्य कारणों के लिए संचृत रखती हैं। मस्तिष्क की दशायें वस्तुओं के कारण उत्पन्न होती हैं। उनमें वस्तुओं का आपादान रहता है। इन आपादनों का

1. दर्शन शास्त्र का परिचय—पेट्रिक, पृ० 287-288
2. वही, पृ० 288
3. पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग—ब्र० गो० तिवारी, पृ० 367-68

सम्बन्ध ही चेतना है ।"[1]

हॉल्ट की मान्यता थी कि चेतना कोई अतिभौतिक तत्व नहीं है । व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक चेतना को व्यावहारिक अनुक्रिया (Response) के रूप में देखने का प्रयास करते हैं । व्यवहारवादियों का विशेप आशय यह है कि अंत:प्रज्ञा जैसी कोई वस्तु नहीं है जिसे हम मनस के रूप में जानते हैं । मनस केवल वाह्य प्रत्यक्षीकरण के द्वारा शारीरिक क्रियाओं के संघात के रूप में जाना जाता है ।[2] व्यावहारिक अनुक्रिया से अलग चेतना का स्वतंत्र अस्तित्व है ही नहीं । जव एक वस्तु का संयोग दूसरी वस्तु से होने पर अनुक्रिया होती है तव वही चेतना है ।

मनोविश्लेषणवादी भी चेतना का मानसिक स्वरूप मानने से इन्कार करते हैं । उनकी मान्यता है कि चेतना जैवकीय तत्व से उत्पन्न होती है ।

चेतना के सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठाया जाता है कि क्या चेतनाओं का पूर्ण स्थानान्तरण सम्भव है । इस सम्बन्ध में नव्य वस्तु स्वातन्त्र्यवादियों का उदाहरण देकर समझाया जाता है । रामनाथ शर्मा अपनी पुस्तक 'समकालीन दर्शन' में कथन करते हैं कि "नव्य वस्तु स्वातन्त्र्यवादियों के अनुसार चेतना में कुछ नहीं होता । चेतना तो वस्तुओं में वाह्य सम्बन्ध मात्र स्थापित करती है । रसेल के अनुसार प्रत्येक चेतना विश्व की ओर देखने का एक विशिष्ट परिप्रेक्ष्य मात्र है । अब यदि दो व्यक्ति एक दूसरे का दृष्टिकोण ग्रहण कर सकते हैं तो उनमें एक दूसरे की चेतनाओं का स्थानान्तरण भी सम्भव होना चाहिये । परन्तु क्या चेतनाओं का पूर्ण स्थानान्तरण सम्भव है ? नहीं, अस्तु वस्तु स्वातन्त्र्यवादियों की चेतना की व्याख्या सर्वथा भ्रमपूर्ण और गलत है ।"[3]

अस्तित्ववादियों ने चेतना पर विशेष ध्यान दिया है, विशेषकर जीन प्रॉल सार्त्र ने । सार्त्र भी चेतना का विश्लेषण करता है । उसने देखा कि चेतना किसी वस्तु की चेतना होती है । वह किसी न किसी वस्तु को वताती है किन्तु स्वयं उस वस्तु से अलग होती है । चेतना स्वयं वस्तु नहीं है किन्तु वस्तु का वोध कराती है ।

1. समकालीन दार्शनिक चिन्तन—हृदयनारायण मिश्र, पृ० 242-43
2. "The main contention of the behasiomist is that there is no such thing as intrespection by which we can know ourselves as minds, and that so called minds are but aggregates of Physical and physiological movements known through external observation." Principles of Philosophy—H. M. Bhattacharya, p. 272
3. समकालीन दर्शन—रामनाथ शर्मा, पृ० 250

चेतना यदि वस्तु होती तो उसको जानने के लिए दूसरी चेतना की आवश्यकता होती। इस प्रकार हम अनन्त तक चले जाते, फिर भी समस्या का हल नहीं होता और हम अनवस्था दोष (Regress ad infinitum) को करते जाते। अतः सार्त्र का कथन कि चेतना, चेतना का विषय नहीं हो सकती।

दूसरी बात जो चेतना के विषय में कही जा सकती है कि वस्तु के अभाव में चेतना नहीं हो सकती। सार्त्र चेतना को सत् का रूप मानता है। उसके अनुसार चेतना वही है जो कि वह नहीं है और वह स्वयं वह नहीं है जो कि वह है। अतः चेतना और वस्तु सत् के दो रूप हैं जिन्हें वह पोर्सोई (Poursoi) अर्थात् अपने लिए सत् और एन सोई (En-soi) अर्थात् अपने आप में सत् कहता है। संक्षिप्त में हम कह सकते हैं कि सार्त्र चेतना को संसार से भिन्न नहीं मानता।

अस्तित्ववादियों की दृष्टि में चेतना काल सापेक्ष है। वह वस्तु से अलग है फिर भी वह वर्तमान में होती है और उसका भूत और भविष्य भी होता है।

चेतना का विकास

दार्शनिकों के बीच चेतना को लेकर बहुत अधिक विवाद है। जड़वादी चेतना को भौतिक द्रव्य का कार्य अथवा क्रियाफल मानते हैं, पर अध्यात्मवादी चेतना को सब क्रियाओं, अनुभवों का मूल आधार मानते हैं। अब हम चेतना के सम्बन्ध में अलग-अलग दार्शनिकों के मत से अवगत होने का प्रयास करेंगे।

"अर्नेस्ट हेकेल जो एकतत्ववादी भौतिकवादी है उसने विश्व का मूल जड़ तत्त्व ही माना है परन्तु वे उसके स्वरूप के विषय में आक्षेपवादी (Agnostic) हैं। उन्होंने भौतिक रासायनिक (Physios chemical) अवस्था से जीव (Life) का विकास तथा जीव से चेतना (Consciousness) का विकास माना है।"[1] भौतिकवादी सिद्धान्त यह बताने में असफल रहा है कि चेतना भौतिक तथा अचेतन अणुओं से किस प्रकार उत्पन्न होती है।

मनोवैज्ञानिकों ने चेतना के तीन पहलू माने हैं, जिन्हें हम ज्ञानात्मक, क्रियात्मक एवं भावनात्मक कहते हैं और ये चेतना के तीनों पहलू मिलकर ही एक सम्पूर्ण मानसिक क्रिया बनाते हैं। ये तीनों पहलू यद्यपि भिन्न हैं, परन्तु ये एक दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते और न ही ये तीनों पहलू उत्तरोत्तर (Succeeded) प्रस्तुत होते हैं। ये तो एक साथ ही पाये जाते हैं।

यथार्थवादी दार्शनिक चेतना को सर्चलाइट कहते हैं और यह मानते हैं कि चेतना की वस्तु और आत्म में द्रव्य का भेद नहीं है किन्तु उनके कार्य और स्थान के

---

1. पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग—ब्र० गो० तिवारी, पृ० 132

कारण भेद हैं।[1]

डेविड ह्यूम ने चेतना के साहचर्य सिद्धान्त पर वल देते हैं। ह्यूम का कथन है कि चेतना की स्थिति इन्द्रिय संस्कार (Impression) और विचार (Idea) के वीच के सम्बन्ध को विश्लेषित कर ही की जा सकती है।[2] दूसरे व्यक्ति जॉन स्टुअर्ड मिल हैं परन्तु वे दोनों आत्म-चेतन (Self-Consciousness) के संदर्भ में परेशानी महसूस करते हैं। ह्यूम लिखता है—

"Upon a more strict review of the section concerning personal identity, I find myself involved in such a labyrinth that, I must confess, I neither know how to correct my former opinion, nor how to render them Consistent."[3]

व्राइटमन का कथन है कि चेतन जीवन अलग-अलग संवेदनाओं का संग्रह अथवा किसी प्रकार से उसके भाग नहीं हैं किन्तु वह सम्पूर्णता में है और इसलिए वह विश्लेषण विधि से परे हीं, समझ में आ सकती है।[4]

आत्म चेतना (Self-Consciousness)

चेतना के वारे में हमने देखा कि चेतना हमें वाह्य वस्तुओं से सचेत (Aware) कराती है जिसमें प्रत्यक्ष, स्मृति, विचारना और कल्पना आदि भी सम्मिलित हैं। किन्तु मानव के संमुख एक समस्या आत्म-चेतना (Self-Consciousness) की समस्या है। यह आत्म चेतना क्या है ? कहा जाता है कि आत्म-चेतना मनस की जटिल (Complex) क्रिया है जिसके माध्यम से मानव स्व से, अपने आपसे अवगत (Aware) होता है।

आत्म-चेतना का एक उदाहरण है। आज श्री विलियम का ऑपरेशन हुआ है। उन्हें डाक्टर ने ईथर सुंघाकर वेहोश किया था। ऑपरेशन समाप्त होने के वाद

---

1. The difference between object and subject of consciousness is not a difference of quality or substance but a difference of office or place in configuration."—The New Realism, p. 476
2. "David Hume is the greatest and most typical associationist. He holds that the more complex states of consciousness are found upon analysis to consist of what he calls impressions and ideas and their relations"—An Introduction to Philosophy—Brightman and Beck, p. 129
3. An Treatise on Human Nature—Vol II p. 317
4. An Introduction to Philosophy—Brightman & Beck, p. 132

उन्हें धीरे-धीरे होश आता है। प्रथम दशा में वे धीरे-धीरे आँखें खोलते हैं किन्तु वे उनके विस्तर के पास खड़े लोगों को नहीं पहचानते। बीच-बीच में वे आँखें बन्द कर लेते हैं और केवल नर्सों की आवाज सुनते हैं किन्तु उसे अर्थ नहीं दे पाते। कुछ समय बीतने पर वे नर्स के शब्दों को समझने लगते हैं। पास खड़े हुये व्यक्तियों को पहचानने लगते हैं अर्थात् चेतना पूर्ण रूप से लौट आई। उन्हें स्वयं का भी ज्ञान हो जाता है कि ऑपरेशन हो चुका है और वे अस्पताल में हैं।

एक दूसरा उदाहरण आत्म चेतना का—दीपक से दिया जाता है जो स्वयं को तो प्रकाशित करता है किन्तु वह अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है किन्तु हम यहाँ पाते हैं कि आत्म चेतना वस्तुओं को तो प्रकाशित करती है, पर वस्तुएँ आत्म चेतना को प्रकाशित नहीं करतीं।

प्रश्न अब यह है कि चेतना और आत्म चेतना में क्या भेद है। मानव में हम एक विशेषता पाते हैं जो पशुओं में नहीं पाते। पशु में चेतना होती है किन्तु मानव में चेतना के साथ-साथ आत्म चेतना भी होती है। मार्टिनियु (Martineau) ने दो शब्द एटयूशन (Attuition) और इन्टीयूशन (Intuition) दिये हैं। एटयूशन से वे चेतना को और इन्टीयूशन से वे आत्म चेतना को बताते हैं।[1] आत्म चेतना व्यक्तित्व का लक्षण है।

याकूब मसीह अपनी पुस्तक 'धर्म-दर्शन' में 'चेतना' और आत्म चेतना में भिन्नता बतलाते हैं। वे कहते हैं "यह निर्विवाद है कि कुछ जीव में चेतना है और इन्हीं चेतनमय जीवों के बीच विकासधारा में आत्म चेतन जीव अर्थात मानव का इस वसुन्धरा पर आगमन हुआ नानव-चेतना के प्रादुर्भाव के साथ दो बातें स्पष्ट दिखती हैं। सर्वप्रथम, मानव की मानसिक खुजलाहट के कारण विज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ। मानव-चेतना के द्वारा प्रकृति में अन्तर्निहित गर्भित विचार स्पष्ट होते हैं।"[2]

सी० ई० एम० जोड ने आत्म-चेतना का महत्व बताते हुए कहा कि वह मनुष्य जो आत्म चेतन है, वह आत्म (Subject) और वस्तु (Object) दोनों होता है, वह,

1. "Martineau has given us very suggestive terms to express the distinction between consciousness and self-consciousness. Consciousness he has described by the term 'attrition' and self consciousness by the term 'intuition' meaning by attuition consciousness directed to external objects and by intiution, consciousness of the inner world or self—Principles of Philosophy, Man Mohan Bhattacharya, p. 299
2. धर्म-दर्शन—याकूब मसीह, पृ० 160

तार्किक दृष्टि से चेतन आत्म और आत्म जो वस्तु को जानता है, उससे पूर्व होता है। अतः आत्म-चेतन आन्तरिक सम्बन्ध और पूर्ण-अंश के सिद्धान्त दोनों को उद्घाटित करता है। यह आत्म चेतन सभी प्रकार के ज्ञान का आधार है।[1] डॉ० राधाकृष्णन् ने आत्म-चेतना की विशेषताएँ दिखाई है जो भौतिक प्राणमय या चेतन जीवों से सर्वथा भिन्न हैं। उन्होंने लिखा कि "जब हम प्राणी से मानव पर आते हैं तो हमें धीरे-धीरे क्रमिक विकास दृष्टिगत नहीं होता बल्कि दोनों के बीच में एक अन्तर सहसा प्रतीत होता है। मानो हम एकदम नये अनुभव में छलाँग लगाते हैं।"[2] एक और मानव में वहुत अन्तर है। मानव चाहे कितना भी आदिम और असभ्य हो फिर भी वह मानव ही है। वास्तव में मानव-चेतना अथवा आत्म-चेतना एक आंगिक समष्टि (Organised whole) है।

आत्म चेतना में हम आत्म और अनात्म दोनों का संज्ञान (Cognition) पाते हैं किन्तु प्रश्न यह है कि क्या आत्म-चेतना में वस्तुगत चेतना होती है। आत्म और अनात्म दोनों का संज्ञान के लिए होना आवश्यक है किन्तु डेकार्ट जब अपने दर्शन करो। Cogito के आधार पर निर्माण करता है तो वह वस्तु-चेतना को भूल जाता है जो कि आत्म-चेतना के लिए अनिवार्य दशा है। उसका Cogito केवल आत्म का संज्ञान है जिसमें अनात्म अथवा वस्तु का कहीं कोई संदर्भ नहीं है।[3]

वाटसन ने अपनी पुस्तक 'एन आउट लाइन ऑफ फिलासफी, में डेकार्ट की आलोचना की है क्योंकि उसने वस्तुगत चेतना की वात नहीं की जो कि आत्म-चेतना का आवश्यक तत्व है।[4]

1. Guide to Philosophy—C E M. Joad. p. 427
2. When we pass from animal to man we find not a gradual development but a sudden break, a leap into a new form of experience". Radhakrishnan—Idealistic view of life, p. 208
3. "Descartes in his formulation of the principle of self consciousness seems to ignore object consciousness as the indispensable condition of self consciousness. His cogito is the cognition of self alone in which there is no reference to not-self or object". Principles of Philosophy, Man Mohan Bhattacharya, p. 300
4. Critics of Descartes have charged him with a psychological burdenr for not having referred to object consciousness as a necessary element of self consciousness.

काण्ट अपने दर्शन में आत्म चेतना के सिद्धान्त का तादात्म्य बुद्धि से करते हैं। यह बुद्धि समस्त ज्ञान की वाह्य दशा को बताती है। ज्ञान मीमांसा की दृष्टि से देखने पर मालूम पड़ता है कि आत्म (Self) आत्म चेतन है। ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मगत चेतना और अनात्म के बीच सम्बन्ध का परिणाम है।

आत्म-चेतना के विकास का इतिहास

प्राचीन आदर्शवादियों ने आत्मचेतन के कार्य का विवेचन करते हुए बताया है कि प्रत्ययकरण (Conception), निर्णय (Judgment) और बुद्धि (Reasoning) ये तीन तत्व हैं जिसके द्वारा मानव का बौद्धिक मन सत्य (Reatity) को बनाने में सहायक होता है। यहाँ हम पशुओं से भेद कर सकते हैं कि उनकी चेतना, चेतना के स्तर से ऊपर नहीं उठती, जबकि मानव की चेतना, आत्म-चेतना की ओर अग्रसर होती है।

आदर्शवादी इस तथ्य को नहीं मानते हैं कि आत्म-चेतना का विकास अचेतन से हुआ है जैसा कि फ्रायडवादी मानते हैं। वे यह कहते हैं कि जैवकीय क्षेत्र में यह सम्भव है कि मानव शरीर विकास की परम्परा में पशुओं के आकार-प्रकार से विकसित हुआ हो किन्तु बुद्धि पशुओं के मानस के विकास का परिणाम नहीं है। वे मानते हैं कि बुद्धि एक विशेष वरदान है जो जटिल कार्य, जैसे प्रत्ययकरण, निर्णय और विचारने को करती है जो पशुओं में नहीं पाये जाते।[1]

विकासवादी स्पेन्सर यह सोचता है कि मानव की बुद्धि को पशुओं के प्रत्यावर्तन (Reflex action) में खोजा जा सकता है। प्रात्यावर्तन क्रियाएँ अचेतन क्रियाएँ हैं जो उद्दीपन (Stimuli) की प्रति अनुक्रिया (Response) करती है, जिससे पशु में अनुभूति पैदा होती है। बेन (Bain) भी स्पेन्सर की तरह स्पष्ट करते हैं कि

1. "Orthodox idealistic Philosophy does not accept the above view and argues that though in the sphere of biology it is possible to maintain that human body is a result of a long course of development from lower animal forms and stucture, yet reason is not the result of evolution from animal mind, but marks as a new beginning on the human level. It maintains that reason is a special endowment of the human mind and works through highly complex functions of conception, judgment and reasoning, not traceable to the animal mind." Principles of Philosophy—Man Mohan Bhattacharya, p. 304

आत्मगत चेतना का विकास अचेतन और अबौद्धिक जैवकीय प्रक्रियाओं के माध्यम से हुआ है।[1] किन्तु इस सिद्धान्त की आलोचना हुई है। यदि एक बौद्धिक कार्य बार-बार किया जावे तो चेतना के स्थान पर अचेतना का स्थान ले लेता है इसलिए यह कहना कि अचेतन क्रियाओं से आत्मचेतन उत्पन्न होता है, गलत है।

फिशरे और हीगेल में समानता

फिशरे और हीगेल के आत्म-चेतन सम्बन्धी मत में समानता पायी जाती है। "दोनों के अनुसार तत्व आत्म-चैतन्य (Self-Consciousness) रूप है जिसमें एकता और अनेकता, अभेद और भेद तथा आत्म और अनात्म का सम्बन्ध पाया जाता है।"[2] किन्तु फिशरे के आत्मचेतन परमात्व-तत्व को, उनमें तादात्म्य, विरोध और परिसीमन को, उनकी पक्ष, विपक्ष और संपक्ष की त्रयी को तथा उनके परमात्मा, जीवात्मा और अनात्मा के सिद्धान्त को किसी रूप में हीगेल से स्वीकार कर लिया है किन्तु ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं करता। फिशरे आत्म की संकल्प शक्ति को महत्व देते थे। हीगेल ने संकल्प शक्ति को महत्व न देकर बौद्धिक तत्व को विशेष महत्व दिया है जो आत्म-चेतन है।

ह्यूम के मत की आलोचना

ह्यूम के आत्म-चेतन सम्बन्धी मत की आलोचना ब्रज गोपाल तिवारी की लेखनी से पाते हैं कि "यह मत आत्म-चेतना (Self-consciousness) को भी नहीं समझा पाता। यदि मनस-या आत्मा क्षणिक संवेगों, उद्वेगों, विचारों, भावनाओं आदि की शृंखला (Series) से अधिक या शेष कुछ नहीं है तो फिर शृंखला के रूप में कैसे समझ सकती है ? यदि प्रत्येक विचार दूसरे से पृथक् तथा स्वतंत्र है, तो एक विचार दूसरे के सम्बन्ध में कैसे जान सकता है ? यह तभी सम्भव है, जबकि हम एक स्थायी आत्मन को मानें, जो सबको आधार, दृष्टा या साक्षी चैतन्य है, जो सब मानसिक क्रियाओं का ज्ञाता व प्रभाता है। इस प्रकार ह्यूम आत्मचेतन की क्रिया को सन्तोषजनक ढंग से नहीं समझा पाते हैं।"[3]

भौतिकवादी मत की आलोचना

"आत्म-चेतना (Self-conscionsness) जैसी मन शक्ति की व्याख्या भौतिक

---

1. Spencer and Bain thus believed that reason or self consciousness has evolved from unconscious and irrational biological functions of animal life as a result of long process of repetition. Ibid, p. 303
2. आधुनिक दर्शन का वैज्ञाविक इतिहास—जगदीश सहाय श्रीवास्तव, पृ० 426
3. पाश्चात्य दर्शन का इतिहास—ब्र० गो० तिवारी, पृ० 170

वाद नहीं कर पाता है। पुद्गल में आत्मज्ञान का अभाव पाया जाता है। वह स्वयं को स्वयं ही नहीं जान सकता। मनस में आत्म-ज्ञान की क्षमता होती है और यह उसकी अद्वितीय शक्ति है जो पुद्गल से कभी भी प्राप्त नहीं की जा सकती। इस सामर्थ्य अथवा शक्ति में वह पुद्गल का आश्रित नहीं है, उससे स्वतंत्र है और ज्ञान के क्षेत्र में प्रथम है।"[1]



1. पाश्चात्य दर्शन का इतिहास—ज्ञ० गो० तिवारी, पृ० 136

अध्याय | 6

क्या मूल्य आत्मगत है अथवा वस्तुगत

आधुनिक दार्शनिक समस्या में महत्वपूर्ण समस्या यह भी है कि क्या मूल्य आत्मगत है अथवा वस्तुगत। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि मूल्य 'व्यक्तिनिष्ठ' (Subjective) एवं 'वस्तुनिष्ठ' (Objective) होते हैं। प्रो० ब्राइटमेन ने इसे क्रमशः 'व्यावहारिक मूल्य' (Empirical value) तथा 'यथार्थ मूल्य' (True value) नाम दिया है। आधुनिक वस्तुवादी (Realist) मूल्य को आत्मगत (Subjective) मानते हैं। उनकी मान्यता है कि मूल्य-निर्णय (Value judgment) आत्मगत है, वस्तुगत नहीं। मूल्य चेतना पर निर्भर है क्योंकि वे इच्छाओं के कार्य हैं।[1] जबकि बुद्धिवादी मूल्य को वस्तुगत (Objective) मानते हैं क्योंकि मूल्य का केन्द्र सामान्य (Universal) में है।[2]

व्यक्तिनिष्ठ अथवा आत्मगत पद प्रायः तीन अर्थों में प्रयोग किया जाता है।[3] जिनके आधार पर मूल्य सिद्धान्त को व्यक्तिनिष्ठ अथवा आत्मगत कहा जाता है। प्रथम अर्थ के अनुसार हमारे मूल्य सम्बन्धी निर्णय (Judgments) व्यक्ति की मानसिक अवस्था यथा रुचि, आवश्यकताओं या सन्तुष्टि के आधार पर देखे जाते हैं और इस अर्थ के अनुसार मूल्य को तथ्य (Facts) माना जाता है जो कि व्यक्तियों की मन की अवस्थाएँ हैं। दूसरे अर्थ के अनुसार मूल्य इस संसार में किसी भी अर्थ में वास्तविक (Real) नहीं है। वे अवास्तविक अथवा कल्पित (Fictions) हैं जिन्हें हमने अपनी भावनाओं के अनुसार उन-उन वस्तुओं पर आरोपित कर दिया है। यहाँ यह बता दें कि आत्मगतवादी (Subjectivist) मूल्य को मानसिक एवं भावनागत मानते हैं। जैसा कि भट्टाचार्य का कथन है।[4] तीसरे अर्थ के अनुसार व्यक्तिनिष्ठ

---

1. Logic, Value and-Reality : An enquiry into the foundation of Logic—B.K. Bhattacharya, p. 187
2. वही, पृ० 186
3. The Journal of Philosophy, Vol XLVI, March 3, 1949 'senses of subjectivism in value-theory'—J.W. Smith
4. "The subjectivist theories regard value as a purely mental affair, a feeling or a task with no counterpart in the trans-subjective world." Logic, Value & Reality, p. 186

परिभाषित करते हैं। इ

मूल्य मूल्यांकनकर्त्ता के दृष्टि कोण से सम्बन्धित हैं। मूल्यांकनकर्त्ता अपनी दृष्टि से मूल्य निर्धारित करता है। इस प्रकार का मूल्य किसी व्यक्ति विशेष के लिए महत्वपूर्ण है। इसके विपरीत जो मूल्य सभी के लिए महत्वपूर्ण होता है वह वस्तुनिष्ठ (Objective) मूल्य होता है।

व्यक्तिनिष्ठ अथवा 'व्यावहारिक मूल्य' किसी भी वस्तु को किसी भी समय चाहना, उसका मूल्य समझना, उसका आनन्द लेना, उस वस्तु को महत्व देना, यह सब उस व्यक्ति की वास्तविक अनुभूति होती है। वास्तव में देखा जावे तो व्यावहारिक मूल्य अथवा आत्मगत मूल्य प्रमुख रूप से संवेग प्रधान (Emotive) है। जैसा कि प्रो० मेल्डन कहते हैं।[1] प्रो० स्मिथ की दृष्टि में व्यावहारिक मूल जाते हैं कि ये आत्मगत कहे जा सकते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की मूल्य सम्बन्धी अनुभूतियाँ उसकी अपनी है और केवल उसी की है। ये अनुभूतियाँ उसकी भावना से निर्मित होती हैं। आत्मगत मूल्य के लिए जनसाधारण की अनुभूति बनना उसी तरह असम्भव है जिस तरह मेरे लिए यह असम्भव है कि मैं किसी अन्य व्यक्ति की उन भावनाओं का अनुभव कर सकूं जिसका वह अनुभव कर रहा है।[2]

आत्मगतवादियों का मत यह भी है कि मूल्य सुख के अनुभव में अथवा आत्मगत रुचि में निहित है। इस दृष्टिकोण को 'मूल्य का रुचि सिद्धान्त' कहा गया है। इस विचारधारा को मानने वालों में पेरी, जॉर्ज सन्तायना एवं पार्कर के नाम

1. "Empirical value can be defined as the actual experience of liking, prizing, enjoying, esteeming, approving or desiring any thing at any time. Empirical values may be primarily emotive as Prof. Meldon insist so long as the emotion is not divorced from its intended object." The Journal of Philosophy, Vol. XLVI March, 3, 1949 p. 129

2. Prof. Smith's objections to the contrary, Empirical Value can be called subjective in the sense that each person's empirical value experiences are his and his alone and are constituted by his emotions of liking, enjoying......It is impossible for empirical value experiences to be public as it is impossible for me to feel some one else's feeling towards an object as he feels them"—Ibid

10

उल्लेखनीय हैं।[1]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मूल्य पर विचार करने वाले दार्शनिक भी आत्मवादी मूल्यावाद की कोटि में आते हैं। ऐसे व्यक्ति निरपेक्ष (Absolute) मूल्यों की सत्ता स्वीकार नहीं करते। ये लोग आत्मगत मूल्य को प्रायः व्यक्ति की इच्छा (Desire), अनुभूति (Feeling) की सन्तुष्टि आदि से जोड़ते हैं। अर्नफेल के अनुसार—"किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु के प्रति किसी व्यक्ति की इच्छा में निहित है।" इस कारण आत्मगत मानने वाले व्यक्ति मूल्य की सापेक्षता को भी स्वीकार करते हैं।

एच० मन्सटरवर्ग मूल्य को वैयक्तिक (Individual) सन्तोष का साधन मानते हैं जो देश, काल एवं अनुभवकर्त्ता की दृष्टि से परिवर्तित होते रहते हैं। मन्सटरवर्ग के अनुसार, 'यदि संक्षेप में कहा जाए तो हमारे तथा कथित मूल्य वैयक्तिक संतोष के ऐसे साधन मात्र मालूम पड़ते हैं जो युग से युग के लिए, व्यक्ति से व्यक्ति, समुदाय से समुदाय के लिए तथा मानव से मानव के लिए बदलते रहते हैं।[2]

एफ० सी० एस० शिलर भी मूल्य का सम्बन्ध अभिरुचि से मानते हैं इनके मत में मूल्य मन की क्रियात्मक अभिरुचि से उत्पन्न होते हैं। मूल्य स्वतः विषयों (Objects) में अन्तर्निहित नहीं होते।

आत्मनिष्ठावादी मूल्य के सार को डॉ० सुरेन्द्र वर्मा ने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है—

"नीतिशास्त्र के वे सभी धारणाएँ जिन्हें हम आत्मनिष्ठावाद (Subjectivism) और उपयोगितावाद के अन्तर्गत रख सकते हैं, नैतिक मूल्य संबंधी कथनों को अनुभावात्मक तथ्य संबंधी कथनों द्वारा परिभाषित करती हैं। उदाहरणार्थ उपयोगितावादी कर्मों के 'औचित्य' को और साध्यों के 'शुभ' को सुख अथवा प्रसन्नता, आनन्द (Happiness) तथा उससे उत्पन्न संतुष्टि (Satisfaction) द्वारा

---

1. "The Value of a thing consists in the feeling of pleasure or the subjective interest which a person evinces with regard to the things. This view is familarly known as the interest theory of value"—Studies in East-west Phil.—Dr. G. Srinivasan, p. 28-29

2. "In short our so called values seem to be merely means of personal gratification, changing from age to age, from people to people, from group to group, from man to man." The Eternal Value—औपनिषदिक परम सत् एवं मूल्य सिद्धान्त—डा० श्रीमती उमा पाण्डे से उद्धृत, पृ० 35

परिभाषित करते हैं। इसी प्रकार आत्मनिष्ठावादी नैतिक पदों को उनके प्रति किन्हीं व्यक्तियों तथा किसी वर्ग विशेष की अनुमोदन की भावनाओं (Feelings of approval) द्वारा अनुवादित करते हैं।"[1]

आत्मगतवादी मूल्य की आलोचना

आत्मगतवादी मूल्यों की व्याख्या में कहा जा सकता है कि इस पर विवाद की कोई आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि निरपेक्ष मूल्यों की व्याख्या नहीं की जा सकती, केवल सापेक्ष मूल्यों की ही व्याख्या सम्भव है।[2] आत्मगतवादी अथवा मूल्य का रुचि सिद्धान्त इस बात का दोषी है कि वह वस्तु के मूल्यांकन की अवहेलना करता है। जब तक कोई वस्तु उसके गुणों के साथ न हो, मूल्यांकन असम्भव है।[3]

व्यक्तिनिष्ठ मूल्यांकन की आलोचना में डॉ० (श्रीमती) उमा पाण्डे का कथन है कि "व्यक्तिनिष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ मूल्यवादी एक दूसरे की आलोचना करते हुए यह भूल जाते हैं कि व्यक्ति और समाज एक ही इकाई के दो पक्ष हैं। व्यक्ति से अलग समाज का और समाज से पृथक् व्यक्ति कोई अर्थ नहीं है।"[4]

वस्तुनिष्ठ मूल्य (Objective Value)

(वस्तुनिष्ठ मूल्य को मानने वाले चिंतकों में वार्ड, मूर, रॉस अर्बन और जॉन लेअर्ड के नाम मुख्य हैं। उनकी दृष्टि में वस्तुनिष्ठ मूल्य की विशेषता यह है कि मूल्य गुण के रूप में वस्तु से सम्बन्धित है चाहे उसे व्यक्ति द्वारा वस्तु में देखा जावे अथवा न देखा जावे इस कारण व्यक्ति के मूल्यांकन के पहले मूल्य उस वस्तु में निहित होता है और यही वस्तुनिष्ठ मूल्य है।[5])

1. नीतिशास्त्र की समकालीन प्रवृत्तियाँ—सुरेन्द्र वर्मा, पृ० 173
2. "Purely subjective values can not be disputed, absolute values can not be defined, the relative values are the only one which can be defined viz by their purpose." Ethical Values in the age of science—Paul Robbiazek, p. 248-249
3. Studies in East-West Philosophy—Dr. G. Srinivasan, p. 29
4. औपनिषदिक परम सत् एवं मूल्य सिद्धान्त—डा० उमा पाण्डे, पृ० 36
5. One view maintains that value inhrently belongs to things as a quality of it and always resides in it irrespective of its appreciations by a person. Value in this sense prior to a person's valuation of a thing and exists in it independently of his valuation. This is the objectivistic theory of value Supported by L. R. Ward, G. E. Moore, Ross, Urban John Laird and others."—Studies in East-West Philosophy—Dr. G. Srinivasan p. 28

दूसरी विशेषता जो चिंतकों द्वारा बताई गई है कि वस्तुनिष्ठ मूल्य किसी व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित न होकर सामान्य व्यक्ति से सम्बन्धित है। इसके अतिरिक्त यह चिंतक व्यक्तिगत इच्छा, इच्छा की संतुष्टि, सुख आदि पर बल नहीं देते वल्कि सामूहिक सुख व कल्याण पर बल देते हैं। क्योंकि वस्तु में निहित गुण ही वस्तु को मूल्यवान बनाते हैं। एल० आर० वार्ड ऐसे ही दार्शनिक हैं जो उपरोक्त बातों पर बल देते हैं।[1]

मूल्य किसी वस्तु विशेष का गुण है जिसका साक्षातकर्त्ता से कोई सम्वन्ध नहीं होता। आर्थर केनन रोजर्स, आर० वी० पेरी, अरनेस्ट वार्कर, एवरेट वस्तुनिष्ठ मूल्य के समर्थक हैं। आर्थर केनन रोजर्स का कथन है कि मूल्य वस्तु में निवास करता है क्योंकि "यह हमारी चेतना में स्वीकृति के निर्णय को जाग्रत करता है।" आर० वी० पेरी का कथन है कि, "कोई वस्तु जो भी हो, मूल्य प्राप्त कर लेती है जब किसी प्रकार की रुचि उसमें ली जाती है।"[2] सेम्युएल एलेक्जेंडर ने भी मूल्यों की वास्तववादी (Realistic) समीक्षा की है। इस प्रकार मूर भी वस्तुवादी दार्शनिक है। वह नैतिक प्रत्ययों को आत्मनिष्ठ न मानकर वस्तुनिष्ठ मानते हैं।

अरनेस्ट वार्कर मूल्य को वस्तु का धर्म मानने के पक्ष में हैं। उनके शब्दों में, "मूल्य से मेरा तात्पर्य उस धर्म या गुण से है जिससे कोई वस्तु महत्वपूर्ण होती है। उसका यह महत्व सर्व-साधारण की दीर्घकालीन तथा विस्तृत सचेत सम्पत्ति के द्वारा प्रणाणित होता है।"[3]

डव्ल्यू० जी० एवरेट मूल्य को भावात्मक (Positive) एवं निषेधात्मक (Negative) दोनों मानते हैं। भावात्मक मूल्य वह है जो हमारे कल्याण की वृद्धि करता है जैसे भूमि का उपजाऊ खण्ड। इसके विपरीत निषेधात्मक मूल्य वह है जो हमारे स्वार्थों में वाधा पहुँचाता है।

1. "Ward opines that values are objective, it is not the desire or wish which has any value. Value exists in the object which satisfies this desire, Pleasure, on the other hand, is subjective and personal and therefore no value can be attributed to it, value is permanent, pleasure is temporary and momentary."—Problems —R. N. Sharma, p. 446
2. "Any object which ever it be acquires value when any interest which ever it be, is taken in it." The central theory of value—Perry. p. 115-116
3. The Value of Life—डॉ० (श्रीमती) प्रभा पाण्डे द्वारा उद्धृत पृ० 38

जो मनोवैज्ञानिक मूल्य का सामाजिक दृष्टि से मूल्यांकन करते हैं वे सब वस्तुनिष्ठ मानने वाले होते हैं। उदाहरण स्वरूप मरफी एवं न्यूकोव के अनुसार मूल्य "लक्ष्य प्राप्ति के प्रति अवस्थिति की धारणा है। विशेष करके उस समय जबकि लक्ष्य दूरस्थ होता है।"[1] आगे चलकर मरफी लिखते हैं कि मूल्य के विषय में प्रमुख तथ्य यह है कि मूल्य निश्चित आवश्यकताओं से उत्पन्न होते हैं जिससे मूल्य एक वस्तु का धर्म है जो वस्तु को इच्छा का विषय या इच्छा के योग्य बनाता है।

वस्तुनिष्ठ मूल्य का स्पष्ट लक्षण डेविड रीन द्वारा किया गया है इनकी दृष्टि में मूल्य वह है जो "अधिकतम व्यक्तियों को अधिक से अधिक समय तक सुख देता है।"[2] रीन महोदय के इस कथन में तीन बातें प्रमुख हैं। प्रथम तो यह है कि यहाँ एक व्यक्ति पर बल न देकर 'अधिकतम' व्यक्तियों पर बल दिया गया है। दूसरे मूल्य उसी को माना गया है जो सुख दे। तीसरा इसे क्षणिक सुख देने वाला स्वीकार नहीं किया गया है।

वस्तुनिष्ठ मूल्यवाद की आलोचना

जिस प्रकार व्यक्तिनिष्ठवाद अथवा आत्मगत मूल्यवाद की आलोचना की है, उसी प्रकार वस्तुनिष्ठ मूल्यवाद भी आलोचना से बच नहीं सका। पॉल राबिचेक वस्तुनिष्ठ मूल्यवाद की आलोचना में कहते हैं कि मूल्य वस्तु की तरह देश-काल में स्थित नहीं होता किन्तु वे निर्णय से अनुगमित होते हैं। जिसमें गुण, घटना और क्रिया को व्यक्तिगत दृष्टि से देखा जाता और निर्णय लिया जाता है। इस कारण उसमें वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनों तत्व होते हैं।[3]

---

1. "A value is 'simply the maintenance of a set towards the attainment of a goal, especially when the goal is remote'. "Critique of value. System in India during Post Independence era." K. Ray Choudhury. (Proceedings of the Symposium on Philosophy, Kurukshetra University 1966)
2. "As what pleases most men most of the time—"The Journal of Philosophy Vol XLV May 1948 p. 287
3. "Values do not exist as objects in space and time, but are established by judgments—by judging things. qualities, events or actions from a personal point of view. They therefore Contain both subjective and objective element. – Ethical Values in the age of science—Paul Roubiazak, p. 220

वस्तुनिष्ठ मूल्य का खण्डन जी० आर० मलकानी ने अपनी पुस्तक 'ए स्टडी ऑफ रियलिटी' में भी करते हैं जो संक्षेप में इस प्रकार है—

"प्रायः वस्तुनिष्ठ मूल्यवादी यह मानते हैं कि सभी मूल्य वस्तुनिष्ठ है तथा वस्तुओं में मूल्य है इसलिये नहीं कि व्यक्ति उन्हें ऐसा समझता है बल्कि वस्तुओं में कुछ ऐसे धर्म होते हैं जो मानवातीत हैं तथा उन लक्ष्यों, उद्देश्यों से स्वतन्त्र है जिन्हें व्यक्ति साक्षात्कार करना चाहता है। यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य है कि मूल्य युक्त वस्तुओं का साधारण वस्तु की अपेक्षा से अधिक विशिष्ट धर्म (Ideal) धारण करने वाला माना गया है। यहाँ प्रश्न यह है कि ये कुछ धर्म जिन्हें 'अमानवीय' (Which is beyond) कहा गया है क्या उसी अर्थ में वस्तुनिष्ठ है तो ऐसी स्थिति में मूल्य भी एक दूसरे प्रकार के तथ्य (Fact) हो जायेंगे, जो ठीक नहीं है। ये विशिष्ट धर्म (Ideal) व्यक्ति से स्वतन्त्र हो सकते हैं क्योंकि व्यक्ति इन विशिष्ट धर्मों का निर्माण नहीं करता। वह तो केवल इनका साक्षात्कार करता है। अतः ये धर्म मानव विचार ही में केवल सत्य हैं। वाह्य जगत में इनकी सत्ता नहीं सिद्ध होती।" इनका कथन है कि "मूल्य का कोई भी प्रकार चाहे वह सौंदर्यशास्त्र से सम्वन्धित हो या नैतिकता से सम्वन्धित हो, व्यक्ति सापेक्ष होता है।"[1]

मलकानी महोदय इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "मूल्य की अवस्थिति वस्तु में नहीं है। मूल्य की उचित अवस्थिति उस वस्तु में है जो वस्तुओं की प्रशंसा करता है।"[2]

वस्तुनिष्ठ मूल्य सिद्धान्त का एक दोष यह भी है कि इसमें व्यक्तिगत सुख की अवहेलना करके सामूहिक सुख की स्थापना की जाती है जो उचित नहीं है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का सुख मिलकर ही समष्टिगत सुख वनता है।

मूल्य न आत्मगत और न ही वस्तुगत

आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ मूल्यों सम्वन्धी विचारधाराओं को समझने के वाद एक तीसरी धारा का कहना है कि यह प्रश्न करना ही उचित नहीं है कि क्या मूल्य आत्मगत है अथवा वस्तुगत। आत्मगत और वस्तुगत भेद करना उचित नहीं

---

1. औपनिषदिक परम सत् एवं मूल्य सिद्धान्त—डॉ उमा पाण्डे से उद्धृत, पृ० 41
2. "Value is not in things. The proper seat of value is the subject that appreciates things."—A study of Reality, G. R. Malkani, p. 139

क्योंकि कोई भी मूल्य पूर्णरूप से आत्मगत और वस्तुगत नहीं होता।[1] मूल्यों का वर्गीकरण भी उचित नहीं है क्योंकि एक मूल्य को दूसरे मूल्य से पूर्णतः पृथक् किया ही नहीं जा सकता। मूल्य आपस में एक दूसरे से सम्बन्धित है। वे उच्चश्रेणी के हो सकते हैं। मूल्य मानों दो तारों के बीच है एक को आध्यात्मिक और दूसरे को शारीरिक कह सकते हैं। भेद होते हुए भी उन्हें अलग करना उचित मालूम नहीं पड़ता। मूल्य का ज्ञान तभी हो सकता है जब उसे पूर्णता में देखा जावे। आत्मगत मूल्य और वस्तुगत मूल्यों का भेद तब दिखाई देता है जब मानव के चेतना स्तर पर परिवर्तन होता है। अतः मूल्य को आत्मगत अथवा वस्तुगत मान लेना दार्शनिक दृष्टि से उचित नहीं है।

तथ्य और मूल्य मे अन्तर

तथ्य क्या है?

तथ्य और मूल्य में अंतर देखने के पहले यह आवश्यक है कि हम यह जानें कि तथ्य (Fact) क्या है? समस्त विश्व तथ्यों से व्याप्त है। वे अनन्त हैं। वे कई प्रकार के हैं जैसे हम मानव हैं। यह भी एक तथ्य है कि नुकरात मर चुका है, आज बड़ी उमस है, दो और दो चार होते हैं। तथ्य शब्द के उक्त प्रयोगों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह शब्द प्रकथन या प्रस्थापना की प्रामाणिकता के आधार पर किसी घटना, गुण अथवा संबंध के अस्तित्व अथवा अनास्तित्व की ओर संकेत करता है।"[2] डॉ० देवराज इसकी परिभाषा में कहते हैं कि "तथ्य वह है जो सम्पूर्ण वाक्य द्वारा कथित या संकेतित होता है।"[3] दार्शनिक अलग-अलग रूप से तथ्य की परिभाषा देते हैं। "तार्किकों ने तथ्य शब्द की परिभाषा देते हुए यह कहा है कि तथ्य वस्तु या वस्तुओं, गुणों और सम्बन्धों का एक सम्मिश्रण है। यह किसी प्रस्थापना को सत्य या असत्य बनाता है।[4] रामनाथ शर्मा लिखते हैं, जो स्थिति वक्तव्य (Statement) को सत्य या असत्य बनाती है उसे हम तथ्य कहते हैं।"[5] कहा जाता

1. "The objective and subjective distinction in value is inaccurate since no value is completely objective or subjective. It contains within itself both these aspect." Problems of Philosophy—R. N. Sharma, p.449
2. दार्शनिक त्रैमासिक वर्ष 14 अक्टूबर 1968, अंक 4, पृ० 281
3. पूर्वी और पश्चिमी दर्शन—डॉ० देवराज, पृ० 177
4. दार्शनिक त्रैमासिक वर्ष 14 अक्टूबर 1968 अंक 4, पृ० 281
5. समकालीन दर्शन—रामनाथ शर्मा, पृ० 497

जाता है कि तथ्यों से हम इतने सुपरिचित हैं कि परिभाषा की कोई आवश्यकता नहीं।

आदर्शवादियों और वस्तुवादियों के बीच तथ्य को लेकर विवाद रहा है और वे दोनों ही अपने-अपने ढंग से तथ्यों की चर्चा करते हैं। रसेल को उद्धृत करते हुए देवराज का कथन है कि "तथ्य वह है जो तथ्य के अनुरूप तथ्य का संवादी हो।"[1] इससे स्पष्ट हो जाता है कि दार्शनिक जगत में तथ्य को किसी वस्तु के रूप में नहीं देखा जाता। 'तथ्य कोई विशेष सत्तात्मक (Existent) वस्तु नहीं है जैसे सुकरात, सूर्य, पानी आदि। सुकरात एक व्यक्ति है, तथ्य नहीं। जब हम किसी वस्तु का गुण या दूसरे वस्तु से सम्बन्ध बताते हैं तब एक तथ्य व्यक्त होता है, किन्तु वह वस्तु जिसका गुण या जिससे सम्बन्ध बतलाया जाता है, स्वयं में तथ्य कदापि नहीं होता।[2]

तथ्य को कुछ दार्शनिक निर्णय के रूप में देखते हैं इस मत के समर्थकों में एक रसेल हैं। रसेल का कथन है कि "तथ्य स्वयं न सत्य होते हैं- और न मिथ्या। सत्य या मिथ्या केवल वक्तव्य (Statement), तर्क वाक्य या निर्णय हुआ करते हैं। ये सभी सत्य और मिथ्या द्वैत रखते हैं।"[3] वह इसे समझाते हुए आगे लिखता है कि, "जब मैं एक तथ्य को पुकारता हूँ तो वह एक प्रकार की वस्तु है जो सम्पूर्ण वाक्य को अभिव्यक्त करती है, 'सुकरात' जैसे किसी नाम को नहीं।"[4] वास्तव में तथ्य किसी ज्ञान को नहीं बनाते जब तक कि वे एक आदर्श में आन्तरिक रूप से सम्बन्धित न हों। हम यहाँ यह कहने की स्थिति में हैं कि तथ्य पर विचार करना उस वस्तु का वर्णन कहलायेगा और उसके मूल्य का निरूपण उसका गुणावधारणा। चूँकि हमारे सभी अनुभवों में मूल्यों का विचार सन्निहित है।

तथ्य और घटना में अन्तर

हमें यह भी देखना चाहिए कि जहाँ दार्शनिकों ने तथ्य और मूल्य को लेकर विवाद का विषय बनाया है, वहीं उन्होंने तथ्य और घटना में भी अन्तर किया है। तथ्य और घटना के अन्तर को वूजले महोदय ने स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है। घटना की आवश्यक विशेषता यह है कि उसकी कोई तिथि होती है और कुछ अवधि होती है। एक तथ्य के बारे में यह कहना कोई अर्थ नहीं रखती कि 'वह कब घटा' या वह कहाँ घटा? परन्तु तथ्यों को बताने के लिए 'होना क्रिया' के काल निरपेक्ष

1. पूर्वी और पश्चिमी दर्शन डा० देवराज, पृ० 177
2. समकालीन दर्शन—रामनाथ शर्मा, पृ० 498
3. Logic and Knowledge—B. Russell, p. 184
4. वही, p. 142-83

वर्तमान सूचनार्थक रूप का प्रयोग करते हैं। इस दृष्टि से एक तथ्य एक वस्तुकृत घटना, किसी घटना में जो हुआ उसका उपाकृष्ट रूप होता है। तथ्य घटना का एक आसानी से समझ में आ जाने वाला पक्ष होता है जो उसके बारे में सोचने वाली बुद्धि को दिखाई देता है। घटना विशिष्ट होती है, लेकिन एक तथ्य का विशिष्ट होना आवश्यक नहीं है।[1] "तथ्य कोई घटना न होकर घटना समूह का एक सूत्र-बद्ध रूप में कथन है।"[2] याकूब मसीह का कथन है कि "तथ्य जागतिक घटना चक्र की वह सब अनुभूत नियमितताएँ हैं जिन्हें प्रामाणिक वैज्ञानिक पद्धतियों के अनुसार खोजकर वाक्य रूप दिया गया है।"[3]

तथ्य और प्रत्यय में अन्तर

जहाँ एक ओर तथ्य और घटना में अन्तर दिखाया जाता है वहीं दूसरी ओर तथ्य और प्रत्यय में भी अन्तर किया जाता है। कहा गया है कि "तथ्य (Fact) विशिष्ट और प्रत्यय सामान्य होता है। तथ्य द्रव्यमूलक (Substantial) और प्रत्यय विश्लेषणात्मक होता है। तथ्य स्वास्तित्व पूर्ण (Self-existent) और प्रत्यय प्रतीकात्मक (Symbolical) होता है।[4]

तथ्यों की प्रकृति

समकालीन दर्शन में तथ्यों की प्रकृति से सम्बन्धित छः विभिन्न धारणाएँ प्राकृत यथार्थवादियों, (Native Realists), मनोवैज्ञानिक आत्मनिष्ठावादियों (Psychological Subjectivisim), तार्किक आत्मनिष्ठावादियों तथा मनोवैज्ञानिक वस्तुवादियों ने प्रस्तुत की है। ये धारणाएँ निम्नलिखित हैं --

(1) तथ्य यथार्थ हैं।

(2) ये यथार्थ वस्तुओं का आदर्श प्रतिनिधित्व करते हैं।

(3) मनोवैज्ञानिक प्रकृति में एक आदर्श वस्तु है।

(4) तार्किक प्रकृति में ये एक आदर्श वस्तु हैं।

(5) ये एक मनोवैज्ञानिक प्रकृति की वस्तु है, परन्तु यथार्थ हैं।

(6) ये एक तार्किक प्रकृति की वस्तु हैं, परन्तु यथार्थ हैं।

तथ्यों (Data) की प्रकृति को लेकर कुछ दार्शनिक उसे मानसिक मानते हैं, जबकि अन्य उसे वस्तुगत ठहराते हैं। यहाँ पर जो भ्रम उत्पन्न होता है उसे दूर

---

1. ज्ञान मीमांसा परिचय—ए० डी० वूजले, पृ० 142
2. दार्शनिक त्रैमासिक वर्ष 15 अंक 2, पृ० 90
3. हेगेल तथा ब्रैडले का प्रत्ययवाद—याकूब मसीह, पृ० 299
4. Principles of Logic. Vol I—p. 43-44

करने के लिए यदि यह मान भी लिया जाये कि तथ्य मानसिक होते हैं क्योंकि तथ्य वस्तु नहीं बल्कि उसकी व्याख्या है तो यह कठिनाई दूर हो सकती है। इस दृष्टि से तथ्य को मानसिक और वस्तुगत दोनों ही कहा जा सकता है।[1] यह विचार समीक्षात्मक यथार्थवाद के अनुसार है।

तथ्यों के विषय में सी० ए० स्ट्रांग ने अपनी जो धारणा दी है वह सभी धारणाओं से भिन्न है। उसके अनुसार "तथ्य यथार्थवस्तु का तार्किक सार है।" स्ट्रांग के अनुसार तथ्य तीन वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं—

(1) तथ्य स्वयं में यथार्थ नहीं है क्योंकि ये अपने अस्तित्व के लिए सावयव (Organism) पर निर्भर करते हैं। यदि ये यथार्थ होते तो प्रत्यक्षीकृत भ्रम का कोई अस्तित्व नहीं होता।

(2) तथ्यों की प्रकृति मनोवैज्ञानिक भी नहीं होती क्योंकि यह मानसिक कर्म नहीं होता। प्रत्यक्षीकरण में कार्य प्रत्यक्षगत नहीं होता, अपितु कार्य का सार अर्थात् प्रत्यक्षगत होता है। जब हम अपने चेहरे को देखते हैं तो हम देखने की क्रिया को नहीं देखते अपितु अपने चेहरे को देखते हैं। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक कार्य 'देखना' तथ्य नहीं होता।

(3) तथ्यों का अस्तित्व नहीं होता क्योंकि ये अपरिवर्तनशील और सर्वभौम होते हैं। इनका अस्तित्व वस्तु के समान देश-काल में सीमित नहीं होता। तथ्य वही रहते हैं चाहे विषय वर्तमान में अस्तित्ववान हो या भूत में। उदाहरण के रूप में कुर्सी अन्य वस्तु में परिवर्तित हो सकती है परन्तु कुर्सी के तथ्य परिवर्तित नहीं होते।[2]

रघुनाथ गिरी 'तथ्य और मूल्य' में लिखते हैं कि तथ्य "हमारे चिन्तन पर ही आधारित नहीं होता अपितु हमारे चिंतन से स्वतंत्र भी इसका अस्तित्व हो सकता है।"[3] उन्होंने तथ्य से सम्बन्धित तीन बातें बताईं—(1) तथ्य एक मिश्र है, (2) तथ्य किसी प्रस्थापना को सत्य या असत्य सिद्ध करने का माध्यम है, (3) तथ्य का अस्तित्व हमारे चिंतन पर ही निर्भर नहीं करता अपितु वह स्वतंत्र होता है।

रसेल के अनुसार तथ्य न सत्य होते हैं और न असत्य। सत्य या मिथ्या केवल कथन या तर्क वाक्य या निर्णय हुआ करता है।

तथ्यों के प्रकार

तथ्यों का विभाजन सामान्यतः दो भागों में किया जाता है—निषेधात्मक तथ्य

1. समकालीन दर्शन—रामनाथ शर्मा, पृ० 278
2. समकालीन दर्शन—रामनाथ शर्मा, पृ० 278
3. दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष 14, अक्टूबर 1968, अंक 4, पृ० 28

और विधेयात्मक तथ्य। निषेधात्मक तथ्य वह होते हैं जैसे दो और दो का योग पाँच नहीं होता अथवा गाँधी अब जीवित नहीं हैं। विधेयात्मक तथ्य वह होते हैं जैसे दो और दो का योग चार होता है अथवा हम लोग जीवित हैं।

रसेल भी तथ्यों के दो भेद करते हैं एक को वे सरलतम तथ्य (Simple fact) और दूसरे को आणविक तथ्य (Atomic fact) कहता है। सरलतम तथ्य वे तथ्य होते हैं जिनमें कोई विशेष (Particular) किसी गुण (Quality) से मिला होता है जैसे 'यह सफेद है'। इसके अन्तर्गत एक ही 'विशेष के मध्य सम्बन्ध पाया जाता है। आणविक तथ्य वे तथ्य होते हैं जिसमें दो या दो से अधिक विशेषों के मध्य सम्बन्ध पाया जाता है जैसे 'सभी मनुष्य मरणशील है'। इस तर्क वाक्य में 'सभी' तथा 'मनुष्य' दो विशेषों के मध्य 'मरणशील' गुण का सम्बन्ध है। इस प्रकार आणविक तथ्यों में एक या एक से अधिक विशेष रहते हैं तथा वे किसी गुण या सम्बन्ध से युक्त होते हैं।

रसेल के अनुसार आणविक तथ्यों में तीन मूल तत्व पाये जाते हैं—(1) विशेष (Particular), (2) गुण (Quality) और (3) सम्बन्ध (Relation)। रसेल का विचार है कि गुण और सम्बन्ध को एक वर्ग में रखकर सामान्य (Universal) की संज्ञा दी जा सकती है। अतः विशेष और सामान्य दो ही विश्व के आदि तत्व या सभी तथ्यों के निर्णायक तत्व रह जाते हैं। राजेन्द्र प्रसाद का लेख 'रसेल का तार्किक अणुवाद' जो अनुभववाद पुस्तक में प्रकाशित है, रसेल के इस सामान्य तथ्य की ओर ध्यान खींचता है। रसेल जिन्हें सामान्य तथ्य कहता है, "ये तथ्य सामान्य तर्क वाक्यों (General Propositions) और अस्तिवाचक तर्क वाक्यों (Existential Propositions) द्वारा व्यक्त होते हैं। 'सभी मनुष्य मरणशील है' सामान्य तर्क वाक्य है और 'कुछ मनुष्य ईमानदार हैं' अस्तिवाचक तर्क वाक्य है।"[1] देवराजजी का कथन है कि "रसेल सामान्य तथ्यों को विशेष तथ्यों से अलग स्वीकार करता है। इस तरह रसेल नकारात्मक या अभावपूरक (Negative) तथ्य भी स्वीकार करता है।"[2] क्योंकि निषेधात्मक तथ्यों को वास्तविक मानना अनिवार्य है।

विटगेंस्टाइन ने तथ्य के विचार को अन्तिम और अव्याख्यात्मक (Indefinable) है।[3] वह तथ्य के दो भेदों संश्लिष्ट (Complex) और आणविक (Atomic) तथ्यों को स्वीकार करता है किन्तु उनका कथन यह है कि संश्लिष्ट

1. अनुभववाद—सम्पादित यशदेव शल्य, पृ 64
2. पूर्वी और पश्चिमी दर्शन—डॉ० देवराज, पृ० 177
3. An Introduction to Philosophical Analysis. P. C. Chatterjee, p. 158

तथ्यों का निर्माण आणविक तथ्यों से होता है जबकि आणविक तथ्य वस्तुओं का सम्मिश्रण है। यह जगत आणविक तथ्यों से पूर्ण है।[1]

तथ्यों के प्रकार, प्रकृति आदि को जान लेने के बाद हमारा ध्यान आलोचना की ओर जाता है। कहा जाता है कि समकालीन दर्शन में तर्कीय प्रत्यक्षवादियों (Logical positivists) की आलोचना की गई है क्योंकि वे 'तथ्य' शब्द का बहुत ही संकुचित अर्थ लगाते हैं। फ्रैडरिक फेरे को उद्धृत करते हुए डॉ० वेद प्रकाश वर्मा ने लिखा है कि "इस सिद्धान्त के समर्थक तर्कीय प्रत्यक्षवादी 'तथ्य' शब्द का प्रयोग बहुत ही संकुचित अर्थ में करते हैं। वे यह मानते हैं कि केवल अनुभवाश्रित तथ्यों को ही 'तथ्य' कहा जा सकता है। हम अन्य किसी प्रकार के तथ्यों की सार्थकता पूर्वक बात नहीं कर सकते। परन्तु फेरे के विचार में एयर के तथा अन्य तर्कीय प्रत्यक्षवादियों की यह मान्यता उचित एवं तर्क संगत नहीं है। इसका कारण यह है कि सामान्य भाषा में हम 'तथ्य' शब्द का प्रयोग कहीं अधिक व्यापक अर्थ में करते हैं। हम केवल अनुभवाश्रित तथ्यों को 'तथ्य' नहीं कहते, इन तथ्यों के अतिरिक्त हम ऐसे तथ्यों की भी प्रायः बात करते हैं जिनका हमारे अनुभव से कोई सम्बन्ध नहीं है। सत्यापनीयता सिद्धान्त के विरुद्ध अपनी इसी आपत्ति को स्पष्ट करते हुए फेरे ने लिखा है कि 'सत्यापन संबंधी विश्लेषण की जिन सीमाओं को बहुत कम स्वीकार किया जाता है उनमें से एक का संबंध 'तथ्य' की अवधारणा से है··· भाषा के सामान्य प्रयोगों का उल्लंघन न करते हुए हम अनुभवाश्रित तथ्यों के समान ही गणित संबंधी 'तथ्यों' तर्कशास्त्र के 'तथ्यों' और नैतिक 'तथ्यों' की बात भी कर सकते हैं।"[2]

प्रश्न एक यह भी है कि क्या मूल्य तथ्य से उच्चतर है अथवा तथ्य मूल्य से। इस संदर्भ में रमाशंकर मिश्र का कथन है कि "मूल्य तथ्य से उच्चतर है अथवा तथ्य मूल्य से उच्चतर है एक अनावश्यक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण से बचकाना प्रश्न है तथ्य और मूल्य की अपनी-अपनी कोटियाँ (Categories) हैं। अतः मूल्य का तथ्य अथवा तथ्य का मूल्य से उच्चतर या निम्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

---

1. "It should be mentioned here, that there is a distinction between complex an atomic facts. Complex facts are composed of atomic facts whereas it is the atomic fact that is a combination of objects. The world is the totality of atomic facts.—वही पृ० 159
2. समकालीन विश्लेषणात्मक धर्म दर्शन—डॉ० वेद प्रकाश वर्मा Refer पृ० 29 Language, Logic and God—Fredric Feray.

तार्किक अनुभववादी मूल्य को तथ्य से निम्नतर मानते हैं।"[1]

तथ्य और मूल्य में अन्तर

यद्यपि मूल्य, तथ्य से भिन्न है फिर भी मूल्यों का तथ्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध है और दोनों के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है और यदि मूल्यों को तथ्यों से पृथक् कर दिया जाये और तथ्यों को मूल्यों से, तो मानव के लिए वे बुद्धिगम्य न रह जायेंगे[2]। इस प्रसंग में महत्वपूर्ण प्रश्न मूल्य एवं तथ्य के पारस्परिक सम्बन्ध का किसी भी मूल्यात्मक वाक्य की स्थापना तथ्य पर आधारित होती है किसी वस्तु का मूल्यांकन करते समय हम उस वस्तु से सम्बन्धित तथ्यों को ध्यान में रखते हैं। सम्बन्धित तथ्यों का ज्ञान जितना विस्तृत एवं सही होता है उतना ही ठोस उस वस्तु का मूल्यांकन किया जा सकता है।[3]

डॉ० दयाकृष्ण ने अपनी पुस्तक 'ज्ञान मीमांसा' में मूल्य और तथ्य की चर्चा की है। उनके अनुसार "हमारी मूल्य सम्बन्धी धारणायें हमारी तथ्य सम्बन्धी धारणाओं पर आश्रित हैं। यदि दो व्यक्तियों की तथ्य सम्बन्धी धारणा एक सी है तो उनकी मूल्य सम्बन्धी धारणा भी एक सी ही होगी। दूसरी ओर मूल्य सम्बन्धी धारणाओं को तथ्य सम्बन्धी धारणाओं पर पूर्ण रूप से आश्रित मानना इस कठिनाई को जन्म देगा कि इस आधार पर तो मूल्य सम्बन्धी धारणाएँ हमेशा बदलती रहेंगी और उनके बारे में एकमत होना असम्भव हो जायेगा।"[4]

तथ्य और मूल्य का भेद ही तथ्यात्मक वाक्य और मूल्यात्मक वाक्य में भेद का उत्पन्न करता है। 'यह मेज है', यह एक तथ्यात्मक वाक्य है और जो वाक्य विशेषतः किसी वस्तु के मूल्यांकन से सम्बन्धित होते हैं, जैसे 'यह मेज अच्छी है' मूल्यात्मक वाक्य कहा जाता है।

तथ्यात्मक एवं मूल्यात्मक वाक्यों का अन्तर इस आधार पर बतलाया जाता है कि तथ्यात्मक वाक्य में सत्यता होती है जबकि मूल्यात्मक वाक्य में सत्यता नहीं पाई जाती किन्तु दार्शनिकों ने इस आधार को भी नहीं माना है। दार्शनिकों की विशेष दृष्टि इस बात पर है कि मूल्यात्मक वाक्यों में विधेय किसी वस्तुनिष्ठ गुण के बारे में नहीं बताते। यह भी इतना महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि वास्तव में मूल्यात्मक विधेय वस्तुनिष्ठ गुणों का प्रकथन करते हैं किन्तु हमारा दृष्टिकोण प्रकथन करने और न करने से इतना नहीं है जितना यह देखना है कि वे प्रज्ञानात्मक हैं अथवा

1. दार्शनिक त्रैमासिक वर्ष 14 अक्टूबर 1968, अंक 4, पृ० 27
2. पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग—ब्रजगोपाल तिवारी, पृ० 211
3. दार्शनिक त्रैमासिक वर्ष 14 अक्टूबर 1968, अंक 4, पृ० 275
4. ज्ञान मीमांसा—दयाकृष्ण, पृ० 16-17

नहीं। हम यह पाते हैं कि मूल्यात्मक वाक्यों का प्रयोजन अप्रज्ञानात्मक होता है जब कि इसके विपरीत तथ्यात्मक वाक्यों का प्रयोजन प्रज्ञानात्मक होता है। तथ्यात्मक वाक्य मुख्यतः वस्तु स्थिति के बारे में कहते हैं और उसका प्रमाणीकरण वैज्ञानिक विधि द्वारा किया जा सकता है किन्तु नैतिक वाक्यों की ऐसी स्थिति नहीं है कि उनका प्रमाणीकरण किया जा सके। इसी कारण आर० एम० हेयर ने अपनी पुस्तक 'दी लेंग्वेज ऑफ मोरल्स, फ्रीडम एण्ड रीजन' में यह बताया है कि नैतिक वाक्यों को तथ्यात्मक वाक्यों से अनुमानित नहीं किया जा सकता है। इसके ठीक विपरीत स्टीवेन्सन का मत है कि मूल्यात्मक वाक्य तथ्यात्मक वाक्य से अनुमानित होते हैं।[1] इसी कारण नैतिक ज्ञान को तथ्यात्मक ज्ञान नहीं माना जाता।

प्रश्न यही है कि क्या तथ्य और मूल्य में अन्तर करना आवश्यक है। लेयर्ड महोदय विचारते हैं कि तथ्य और मूल्य में भेद करना, अन्तर करना आवश्यक नहीं है। समस्त तथ्य मूल्य ही हैं यदि वे एक दूसरे के प्रति उदासीन हैं। यह प्रो० लेयर्ड का मूल्य का प्राकृतिक चुनाव सिद्धान्त है।[2]

इससे हमें यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि तथ्य और मूल्य में तादात्म्य है। तथ्य और मूल्य न तो विरोधाभासित हैं और न ही बराबर। वे स्वतंत्र हैं परन्तु सहयोगी हैं।[3]

मूल्यों के परस्पर सम्बन्ध

मूल्य की समस्या आज के युग की आज की पीढ़ी के लिए एक चुनौती है। विश्व में चारों ओर मूल्यों की गिरावट है। शारीरिक मूल्य को ड्रग्स ने चुनौती दी है। नवयुवक और नवयुवतियाँ नशे की दवाइयाँ लेकर मृत्यु को अल्प आयु में ही

2. दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष 14 अंक 4 अक्टूबर 1968, पृ० 274-276

1. "Laird think that there is no need of distinguishing between fact and value, between the actual and the normative, between bare existence of any sort unrelated to any consciousness and conscious appreciation. All facts are values only that they are indifferent to one another—This is the Natural Election theory of Values."

2. "It can not be concluded that fact and value are identical. Value and fact are neither contradictory nor equivalent. They are independent but correlated." Reality, knowledge and Value—Ed. S. R. Bhall, p. 54

निमंत्रण दे रहे हैं। सामाजिक मूल्य जैसे ईमानदारी, सत्यता, न्याय, अन्य व्यक्तियों के जीवन और सम्पति के प्रति सम्मान, अन्य लोगों की पत्नियों एवं कन्याओं के प्रति आदर की भावना लुप्त हो रही है। चारित्रिक मूल्यों एवं धार्मिक मूल्यों में कोई रुचि नहीं और इन सबके कारण से जगत की गतिविधियाँ एवं मानव-समाज बुरी तरह प्रभावित हुआ है। आज का मानव केवल अर्थ के मूल्य की भाषा सीख रहा है और उसी भाषा में बात करता है। वैज्ञानिक प्रगति के नाम पर मानव-जीवन दिन-प्रतिदिन खोखला होता जा रहा है, न संस्कृति की चिन्ता है और न ही सौन्दर्य को सराहने की क्षमता शेष रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानव-जीवन में मूल्यों के लिए स्थान है ही नहीं, दार्शनिकों ने मूल्य की समस्या को उठाया है। हमने पिछले अध्यायों में देखा और विचार किया।

मूल्य के सम्बन्ध में एक प्रश्न अनुत्तर रह गया। वह प्रश्न यह है कि क्या मूल्यों का कोई परस्पर सम्बन्ध है? अथवा प्रत्येक मूल्य अपने में एक इकाई है। भारतीय संस्कृति में अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष को मूल्यों के रूप में प्रतिपादित किया गया है। अर्थ का जहाँ तक प्रश्न है उसका ऐहिक मूल्य है। जीवन व्यापार चलाने के लिए अर्थ की आवश्यकता है। अर्थ पर ही शारीरिक मूल्य निर्भर करता है। कहा जाता है कि शरीर है तो जीवन है और जीवन के अन्य व्यापार हैं। इस कारण शारीरिक मूल्य का महत्व है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि अन्य मूल्य गौण हो गये। शरीर के माध्यम से काम की ओर व्यक्ति बढ़ता है। काम मानव की मूल प्रवृत्ति है। यदि शरीर स्वस्थ नहीं तो काम शक्ति भी क्षीण होगा और मानव काम का रसास्वादन नहीं कर पायेगा। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि काम की बहुलता न हो इस कारण धर्म का प्रावधान किया गया है ताकि मानव पर नियन्त्रण रहे और धर्म से मोक्ष की ओर उड़ान हो। हम यह कहें कि भारतीय धर्म एवं संस्कृति में मोक्ष मानव-जीवन का चरम मूल्य है जिसे प्राप्त करना है और, अर्थ, धर्म का साधन मूल्य है जिसके द्वारा, मोक्ष जो कि साध्य है, प्राप्त करना है। हम यह भी कह सकते हैं कि अर्थ, धर्म और काम का योग मूल्यों को निर्धारित करता है। इस प्रकार मूल्यों का आपस में परस्पर सम्बन्ध का प्रश्न भारतीय दृष्टिकोण से पाठक के सम्मुख आता है।

प्राचीन काल से मानव क्रियाशील प्राणी रहा है और अपनी रुचि के अनुसार कार्य करता है और उस कार्य के मूल्य का मूल्यांकन करता है। मानव क्रियाशीलता के साथ-साथ उसमें एक गुण सामाजिकता का होता है। इस गुण के कारण वह सामाजिक आवश्यकताओं से अनुशासित होता था। उसका जीवन उसके समाज के अन्य सदस्यों के साथ मिलकर काम करने पर आधारित था। उसने आज्ञा-पालन, संयम, आत्म-दमन तथा अपने समूह अथवा नेता के प्रति निष्ठा के पाठ सीख रखे

थे इसके कारण से उस युग में मूल्यों की ओर कम ध्यान होता था क्योंकि जीवन सुगमता से आगे बढ़ता था किन्तु जैसे-जैसे विज्ञान के पंख बढ़ते गये, जनसंख्या ने गाजर, घास के रूप में विकराल रूप धारण करना आरम्भ किया। मानव जीवन में मूल्य का प्रत्यय जोर पकड़ने लगा। हर कार्य और तथ्य में मूल्य को ढूँढ़ा जाने लगा। हम यहाँ विभिन्न लेखकों के विभिन्न पक्षों पर विचार करेंगे।

एम० पिकार्ड ने सचेतन क्रिया और परिवेश के बीच रुचि सम्बन्ध को मूल्य कहा।[1]

डी० डब्ल्यू प्रॉल ने दृष्टा और दृश्य के बीच अभिरुचि के अस्तित्व को मूल्य कहा।[2]

पेरी ने दृश्य उत्पादन और दृष्टा को रुचि के बीच सम्बद्धता को मूल्य कहा।[3]

एहरेन फेल्स ने दृष्टा और दृश्य के बीच अभीप्सित सम्बन्ध को मूल्य कहा।

इस प्रकार प्रत्येक दार्शनिक ने मूल्य को संबंध के रूप में देखा और ज्ञान के बढ़ते चरण बढ़ते-बढ़ते नैतिक मूल्यों तक पहुँच गये। प्रश्न उठने लगे कि क्या नैतिक मूल्य यथार्थ है? नीतिशास्त्र में नैतिक मूल्य के रूप में शुभ का प्रत्यय चिन्तकों के सम्मुख आया। इसके पश्चात यही शुभ नीतिशास्त्र का एक अविभाज्य अंग बन गया।

अर्बन ने मूल्यों को उच्चतर मूल्य एवं निम्नतर मूल्यों में भेद किया किन्तु किस आधार पर मूल्य को उच्चतर अथवा निम्नतर कहा जाए इस विषय में पाश्चात्य विद्वान एकमत नहीं हैं। उच्च मूल्यों में बौद्धिक मूल्य, सौंदर्यात्मक मूल्य, आधार मूल्य और धार्मिक मूल्यों को गिनाया जाता है। शारीरिक मूल्य, आर्थिक मूल्य को निम्नतर मूल्य के रूप में देखा जाता है। इसी कारण रामनाथ शर्मा लिखते हैं कि "शारीरिक मूल्य इतना महत्व का नहीं है जितना बौद्धिक मूल्य। बौद्धिक मूल्य आध्यात्मिक मूल्य से कम मूल्यवान है। एक मूल्य और दूसरे मूल्य में गुणात्मक

---

1. Value are relations of interests between cosncious activities and environment.
2. Value is the existence of an interest relation between a subject and object.
3. Value may be defined as a relation pattern of an object to valuing subject.

भेद है, परिणात्मक नहीं")।[1] सत्य, ज्ञान और मूल्य वह तत्व है जो मानव जीवन में एकता बनाने में अपना योगदान देते हैं। जीवन के विकास क्रम में सत्य, शिव और सुन्दर ये अन्तिम मूल्य हैं।

मूल्यों का पारस्परिक सम्बन्ध वाह्य मूल्य और आन्तरिक मूल्यों में भी देखा जा सकता है। वाह्य मूल्य, आन्तरिक मूल्यों को पाने का प्रथम चरण है। उदाहरण-स्वरूप यदि शारीरिक मूल्य नहीं है तो हम अन्य मूल्यों की भी उपलब्धि नहीं कर सकते। सम्पति और अर्थ जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करते एवं सन्तुष्टि प्रदान करते हैं और यह सन्तुष्टि की भावना उसका मूल्य है क्योंकि मनुष्य आदिकाल से सन्तुष्टि, सुख को चाहता आया है शरीर ऐहिक मूल्य को प्रदान करता है। क्योंकि शरीर के स्वास्थ्य के बिना दूसरे मूल्यों को कोई मापदण्ड नहीं, जो उस मूल्य को पशुओं के स्तर पर ले जावें। इस कारण ब्राइटमन का कथन है कि "किसी भी मूल्य की पूर्ण रूप से प्रशंसा नहीं की जा सकती जब कि दूसरे अन्य मूल्यों को भी न लिया जावे।"

(उच्चतर मूल्यों की सम्भावना निम्नतर मूल्यों के कारण ही है। उमा पाण्डे लिखती हैं कि "उच्चतर मूल्य प्रायः अधिक सुकुमार (Delicate), सूक्ष्म (Subtle), भंगुर (Fragile) तथा वहुमूल्य (Precious) माने जाते हैं। इन मूल्यों की अवस्थिति निम्नतर मूल्यों के सापेक्ष है जिनके बिना उच्चतर मूल्य की सत्ता ही संभव नहीं है। किन्तु निम्नतर मूल्य, उच्चतर मूल्यों पर निर्भर नहीं करते) यथा स्वास्थ्य एवं पर्याप्त आय, ज्ञान के प्रति प्रीति अथवा सत्य के प्रति निष्ठा पर निर्भर नहीं करते।"[2]

निकोलाई हॉर्टमन मूल्य और मूल्य में किसी प्रकार का विरोधाभास ही नहीं पाते। उनके मतानुसार मूल्यों में आपसी विरोधाभास (Contradiction) नहीं होता। इस कारण उनमें पारस्परिक संबंध स्थापित होना या पाया जाना, मूल्य का ही अपना तत्व है।

कुछ दार्शनिकों के मूल्य में परस्पर संबंध में अपने ही मत हैं। उदाहरण स्वरूप कहें कि मनोवैज्ञानिक मूल्य एक दूसरे से स्वतंत्र होते हैं। प्रत्येक मूल्य का, मनुष्य के प्रगति के साक्षात्कार में अपना मूल्य है किन्तु यह मूल्य आपस में एक दूसरे

---

1. "No value can be fully appreciated without taking all other values."—*Brightman, p. 194*
2. औपनिषदिक परम सत् एवं मूल्य सिद्धान्त—डॉ० उमा पाण्डे, पृ० 43

के अधीन नहीं होते। ऐसा मत मानने वालों में प्लेटो, बोसांके और सोरले का नाम मुख्य है। मूल्यों में आपस में अधीनता नहीं सांमजस्य (Co-ordination) होता है। मुन्स्टरवर्ग और क्रोचे का मत अलग है जो यह मानते हैं कि सौंदर्यात्मक मूल्य मूल्यांकन का अघटित प्रकार है।[1]

जहाँ तक आन्तरिक मूल्यों की बात है वे एक दूसरे पर आश्रित हैं ऐसा निरपेक्ष आदर्शवादियों का कथन है। क्या सत्य के बिना मूल्य हो सकते हैं। धर्म का क्या मूल्य है यदि उसमें से शुभ, सत्य और सुन्दर को निकाल दिया जावे।

प्रश्न यह है कि क्या आन्तरिक मूल्यों की एक दूसरे से तुलना की जा सकती है। इसका उत्तर कुछ दार्शनिक यह देते हैं कि प्रत्येक आन्तरिक मूल्य विलक्षण व अद्वितीय होता है, अतः एक मूल्य की दूसरे मूल्य से तुलना नहीं हो सकती। परन्तु साधारण पुरुषों और दार्शनिकों के व्यवहार में हम यह पाते हैं कि वे मूल्य में तुलनाएँ (Comparisons) करते रहते हैं। इन तुलनाओं से विदित है कि इन मूल्यो में कुछ सामान्य अथवा वाचक तत्व ऐसा है जिसके कारण तुलना हो सकती है।

प्रश्न यह है कि तुलना का आधार क्या है? उत्तर में यह मानना पड़ेगा कि इन तुलनाओं के आधार पर दार्शनिकों की भिन्न-भिन्न परिकल्पनाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न होंगे और कुछ भिन्नता मूल्यों अथवा शुभों के प्रकार भेद से भी हो जावेगी। उदाहरणार्थ सुखवादी भिन्न-भिन्न सुखों की तुलना उनकी तीव्रता, दीर्घता आदि के अनुसार करते हैं और अनेक भारतीय संतों को यह अनुभूति होती है। एक लेखक ने तुलना का आधार निम्न रूप से व्यक्त किया है :—

"सत्य, शिव और सुन्दर का सम्बन्ध दूध, शक्कर और केशर जैसा होता है। इन सबके स्वतंत्र धर्म होकर भी इनके इकट्ठे होने से वस्तु का मूल्य बढ़ जाता है। दूध पोषक है लेकिन वैसे ही लेने में कुछ मजा नहीं। शक्कर मीठी है, तो भी वैसे मुट्ठी भर खाने से कुछ रस नहीं। क्या केशर स्वयं सुन्दर नहीं है? लेकिन उसको कौन खाएगा। दूध में मिला देने पर शक्कर की मिठास और केशर का सुन्दर रंग विकसित हो जाते हैं कहने का यह अर्थ है कि मूल्यों का परस्पर सम्बन्ध जीवन को एक नया आयाम प्रदान करता है।

रामनाथ शर्मा अपनी पुस्तक 'प्रॉब्लेम्स ऑफ फिलॉसफी' में लिखते हैं कि

1. Principles of Philosophy—H. M. Bhattacharya, p, 391
2. दार्शनिक त्रैमासिक-वर्ष 5 जनवरी 1958, अंक 1

मूल्य स्वयं में वस्तुओं की तरह स्थित नहीं होते। हम शुभत्व अथवा सुन्दर को सूक्ष्मता में नहीं जानते। एक डूबते हुए बच्चे को बचाने में हम केवल बच्चे के बारे में सोचते हैं, शुभत्व के बारे में नहीं।"[1]

1. Values do not exist independently in the same way as things. We can not know goodness or beauty in the abstract. When saving a child from drowning, we think of a child and not of goodness." Problems of Philosophy—R. N. Sharma, p. 221

उपसंहार

दर्शन शास्त्र द्वारा प्रस्तुत व्याख्या एवं सिद्धान्त कभी भी अन्तिम नहीं होते क्योंकि दर्शन का कार्य चिन्तन के सम्बन्ध में चिन्तन करना है। उदाहरण स्वरूप हम वैज्ञानिक प्रणाली को ही लें। वैज्ञानिक प्रणाली में प्रत्यक्ष एवं प्रयोग के आधार पर खोज की जाती है किन्तु दर्शन में विश्लेषणात्मक प्रणाली का उपयोग किया जाता है। वैसे विज्ञान और दर्शन का कार्य एक ही है अर्थात् सत्य की खोज। दर्शन चाहे अन्तःप्रज्ञा, विश्लेषणात्मक अथवा द्वन्द्व न्याय पद्धति को अपनायें, वह भी सत्य की खोज में अपना योगदान देता है। दर्शन की प्रवृति ज्ञान प्रधान होती है, तर्क उसका साधन होता है। वह किसी भी तथ्य को तभी स्वीकार करता है जब तक बुद्धि की कसौटी पर सिद्ध न हो। जो विषय बुद्धि को स्वीकार नहीं उसे वह त्याग देता है।

बुद्धिवाद, अनुभववाद और अन्तःप्रज्ञा के कारण ही ज्ञान की समस्या उत्पन्न हुई। बुद्धिवादियों का मत है कि बुद्धि द्वारा ही ज्ञान प्राप्त होता है और विज्ञानवाद का ही महत्व है। इसके विपरीत अनुभववादियों ने अनुभव को महत्व देते हुए यह सिद्ध करना चाहा कि "ज्ञान अनुभव के ही कारण हो सकता है।" काण्ट ने उन दोनों धारणाओं के बीच समन्वय स्थापित करना चाहा। ज्ञान प्राप्ति की तीसरी विचारधारा अन्तःप्रज्ञावादियों की है। कुछ का मत है कि अन्तःप्रज्ञा द्वारा सत्य को पूर्णरूप से जाना जाता है, तो कुछ यह मानते हैं कि तर्कणा विश्लेषणात्मक विधि को अपनाकर केवल आंशिक सत्य का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। बर्गसां जैसे दार्शनिक अन्तःप्रज्ञा से मूल्य को अपनाते हैं। क्योंकि उनके अनुसार सत् में गतिशीलता है। यदि हम भारतीय दर्शन के अद्वैत वेदान्त की अन्तःप्रज्ञा की चर्चा करें तो यहाँ निर्विकल्प प्रत्यक्ष अथवा अपरोक्षानुभूति अन्तःप्रज्ञा का सर्वोच्च विचार है, जो कि बर्गसां और ब्रैडले के विचारों से भिन्न है। अद्वैत द्वारा प्रतिपादित अन्तःप्रज्ञा शुद्ध चेतना की शान्त स्थिति है। जिसके द्वारा अनन्त का ज्ञान सम्भव है। डॉ० राधा कृष्णन् ने 'जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि' में लिखा है कि "प्रत्यक्ष ज्ञान का अतीन्द्रिय क्षेत्र में विस्तार ही अन्तर्ज्ञान है।" उन्होंने पृथक्-पृथक् स्थानों पर उसके लक्षण भी बताये हैं, जैसे 'अन्तर्ज्ञान सर्वथा मौन होता है,' 'अन्तर्ज्ञान में संचरण नहीं, सुनिश्चितता होती है,' 'अन्तर्ज्ञानात्मक सत्य मानसिक दृष्टि से सीधी सादी सरल क्रिया होने के कारण सन्देह से मुक्त होता है,' अन्तर्ज्ञानात्मक ज्ञान

अबौद्धिक नहीं है।" यह वाक्य सिद्ध करते हैं कि अन्तर्ज्ञान बौद्धिकता की कोटि में आता है।

भारतीय दर्शन में दर्शन पद्धतियों पर विचार किया गया है। समकालीन भारतीय दार्शनिक डॉ० राधाकृष्णन इसके उदाहरण हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने विज्ञान एवं दर्शन की पद्धतियों पर विचार किया है। उनका कथन है कि दर्शन पद्धतियाँ केवल अपने देश-काल के साथ सम्बन्ध में ही समझी जा सकती हैं।

सत्य और सत् की समस्याएँ सदैव से दार्शनिकों को झकझोरती रही हैं। नाना प्रकार के वाद उत्पन्न हुए। नाना प्रकार के मत-मतान्तर आज भी दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु यह स्पष्ट है कि मानव ने उनकी व्याख्या कर वर्तमान के चिन्तकों को आगे चिन्तन करने के लिए एक पृष्ठभूमि निर्मित की है ताकि दार्शनिक प्रश्नों द्वारा उठाये गये तर्कों का समाधान ढूंढ़ा जा सके।

मूल्यों पर भी हमने विचार किया और पाश्चात्य दार्शनिकों के विचारों से अवगत हुए किन्तु भारतीय दर्शन मूल्यों को सर्वोपरि स्थान देते हैं। मानव के अस्तित्व का मूल्य और विश्वास ही सर्वोपरि है न कि बौद्धिकता। डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दों में "मानव-मन मूल्यों की खोज करता है। वह ऐक्य और सामंजस्य, सहस्वरता और सौंदर्य, योग्यता और अच्छाई को पाने के लिए उद्योग करता है। सत्य, अच्छाई और सौंदर्य इन सभी मूल्यों के अपने विशिष्ट स्वरूप और लक्षण होते हैं। इन मूल्यों को हम तर्क और बुद्धि से नहीं जानते बल्कि धर्म शास्त्रकारों के शब्द में हम उन्हें अन्तर्ज्ञान या विश्वास से जानते हैं।" वास्तविकता में मूल्यों की चेतना से सभ्यता का निर्माण होता है। सी० एम० ई० जोड ने कहा है कि "वे हमें बताते हैं कि जिस सभ्यता में मूल्य और मूल्यों की चेतना का अभाव है वह जीवित नहीं रह सकती।"

मूल्य की समस्या वर्तमान में ज्वलंत प्रश्न है। मानवीय मूल्यों का पतन चहुँ ओर दृष्टिगोचर हो रहा है। आज की पीढ़ी आतंकवाद से पीड़ित है। ऐसे समय में मूल्यों की व्याख्या अपना महत्व रखती है। यही नहीं, मूल्यों की समस्या, ज्ञान की समस्या, सत्य की समस्या, सत् की समस्या एक दूसरे से जुड़ी हुई है यही विद्यार्थी और पाठक एवं देश के प्रत्येक निवासी को जानना आवश्यक है क्योंकि इसी आधार पर मानवीय विकास आधारित है। यदि मूल्य का अर्थ नहीं तो मानव द्वारा किये जाने वाले समस्त मूल्य अर्थहीन हो जाते हैं। यहाँ तक कि मानव के अस्तित्व का मूल्य भी अर्थहीन दिखाई देने लगता है। दार्शनिकों द्वारा मूल्य की विवेचना कर समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए मार्ग प्रशस्त किया है ताकि मानव प्रजाति का विध्वंस होने से रोका जा सके। डॉ० मैत्र ने ठीक ही कहा है कि "हमारी

परम्परा है मूल्य केन्द्रित होना, न कि अस्तित्व केन्द्रित होना जैसा कि पश्चिम की परम्परा है।

यह पाठ्यक्रम विद्यार्थी एवं पाठक की बौद्धिकता का विकास करने में सहायक तो होगा ही, साथ ही उसको प्रेरित कर स्वयं अपने लिए एवं दूसरे के लिए चिन्तन में सहायक सिद्ध होगा।

